ॐ

महर्षि दयानन्द

और

राजाराममोहनराय

(सिद्धान्तों और प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अनुशीलन)

लेखक—

भवानीलाल 'भारतीय'

एम० ए०, सिद्धान्त वाचस्पति ।

प्रकाशक—

आर्य प्रकाश पुस्तकालय, आगरा ।

मूल्य १)

लेखक का वक्तव्य

भारत के विभिन्न प्राचीन और अर्वाचीन धर्माचार्यों से महर्षि दयानन्द की तुलना करना मेरे अध्ययन का प्रिय विषय रहा है। इसकी एक स्थूल रूपरेखा मैंने कई वर्ष पूर्व ही तैयार की थी और उसे कुछ विस्तार देकर आज से लगभग ६ वर्ष पूर्व ऋषि दयानन्द और अन्य भारतीय धर्माचार्य के नाम से एक छोटी-सी पुस्तिका के रूप में प्रकाशित भी कराया था इसी बीच में इस विषय की अधिक सामग्री एकत्रित करता रहा और अब मेरी यह तुलनात्मक अध्ययन माला निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत प्रकाशित होगी। प्रस्तुत पुस्तक इसी शृंखला की एक कड़ी है।

(१) दयानन्द और गौतम बुद्ध।
(२) दयानन्द और शंकराचार्य।
(३) दयानन्द और रामानुज तथा अन्य वैष्णव आचार्य।
(४) दयानन्द और सायणाचार्य।
(५) दयानन्द और कबीर तथा अन्य निर्गुणी संत।
(६) दयानन्द और राममोहन।
(७) दयानन्द और केशवचन्द्र सेन।
(८) दयानन्द और थियोसोफी के प्रवर्तक।
(९) दयानन्द और रामकृष्ण परमहंस।
(१०) दयानन्द और विवेकानन्द।

पहले मेरा विचार स्वामी रामतीर्थ और महात्मा गांधी को भी अपने अध्ययन के अन्तर्गत लेने का था परन्तु स्वामीरामतीर्थ एक भावुक और ईश्वरभक्त वेदान्ती साधु थे, धार्मिक सिद्धांतोंके प्रति वे विशेष आग्रही नहीं थे और फिर उनकी शिक्षाओं में पूर्वाग्रह कम था। अतः कई बातों में विवेकानन्द से उनका साम्य होते हुए भी उन पर तुलना की दृष्टि

से कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं पड़ी। महात्मा गांधी और महर्षि के सिद्धांतों का तुलनात्मक अध्ययन मेरे पूज्य गुरू पं० धर्मदेवजी विद्यावाचस्पति विद्या मार्तण्ड ने विस्तारपूर्वक उपस्थित कर ही दिया है जो प्रकाशित भी हो गया है।

यह अध्ययन कैसा बन पड़ा है यह तो पाठक पढ़कर ही जान सकेंगे। तुलना का कार्य बड़ा कठिन होता है और फिर एक ही युग में एकसा कार्य करने वाले धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत राजा राम मोहनराय और ऋषि दयानन्द के मन्तव्यों और सिद्धांतों का तुलनात्मक मनन और विश्लेशण करना एक बड़ा दुरुह कार्य है। इस अध्ययन को यथासम्भव पूर्वाग्रह, पक्षपात और एकांगी होने से बचाया गया है और राजा महोदय के सुधार कार्य की विशेषताओं को यथाशक्य उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है फिर भी विद्वानों से मेरा विनम्र निवेदन है कि वे पुस्तक की त्रुटियों को सूचित करें जिससे आगामी संस्करण में उन्हें सुधारा जा सके।

आर्यसमाज के मूर्धन्य नेता और विद्वान पूज्य स्वामी ध्रुवानन्द जी सरस्वती ने मेरे इस नगण्य प्रयास के प्रति आशीर्वाद और प्रोत्साहन के भाव व्यक्त किये हैं तथा पं० धर्मदेवजी विद्या मार्तण्ड ने इसकी भूमिका लिखने कष्ट किया है तदर्थ मैं उक्त दोनों महानुभावों का हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ और आशा करता हूँ कि तुलनात्मक धर्मके अध्येताओं को यह पुस्तक पसन्द आयेगी।

सरदार पुरा जोधपुर
ज्येष्ठ कृ० १० सं० २०१२ वि०

वैदिक धर्म का सेवक
भवानीलाल 'भारतीय'

भूमिका

मेरे प्रिय मित्र श्री भवानीलाल भारतीय एम० ए०, सिद्धांत वाचस्पति साहित्य रत्न ने जो एक स्वाध्यायशील वैदिक धर्म और संस्कृति के प्रति निष्ठावान विचारक युवक हैं, महर्षि दयानन्द और श्री राम मोहनराय नामक पुस्तक पूर्व पाठिका और उपसंहार सहित १६ अध्यायों में लिखी है जिसे आद्योपांत पढ़ने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इस पुस्तक में इन दो प्रसिद्ध सुधारक महापुरुषों के विषय में विस्तृत तुलनात्मक अनुशीलन किया गया है। शास्त्रप्रमाण वाद एकेश्वरवाद मूर्तिपूजा दारशनिक दृष्टिकोण षड्दर्शन समन्वय सर्व धर्म समभाव ईसाके सिद्धांतों और उपदेशों के प्रति धारणा शिक्षा विषयक विचार अंग्रेज और अंग्रेजी राज्य स्त्रियों के प्रति विचार इत्यदि शीर्षक देकर उन पर दोनों महापुरुषों के विचार दिखा कर निष्पक्ष भाव से सुयोग्य लेखक ने जो विवेचन किया है उसे पढ़कर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई है। मेरा विश्वास है कि सब निष्पक्षपात विचारक इस अनुशीलन को अत्यन्त उपयोगी तथा सामाजिक सुधार की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण पायेंगे। मैं ऐसे उत्तम पक्षपात शून्य गम्भीर तुलनात्मक अनुशीलन और विवेचन पर अपने युवक मित्र श्री भारतीय जी का हार्दिक अभिनन्दन करता और उन्हें बधाई तथा साधुवाद देता हूँ।

धर्मदेव विद्यामार्तण्ड

श्री श्रद्धानन्द प्रतिष्ठान
गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी
८—८—२०१२
२३—११—१९५५

❀ समर्पण ❀

पूजनीय श्री स्वामी ध्रुवानन्द जी सरवस्ती

की पवित्र सेवा में,

जिनका आशीर्वाद और प्रोत्साहन लेखक

के लिए असीम प्रेरणा का स्रोत रहा है।

विषय-सूची

अध्याय १

—पूर्व पीठिका—

यूरोपीय जातियों ने धीरे धीरे भारत में अपना राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। फ्रान्सीसी, पुर्तगाली, डच और अंग्रेजी उपनिवेशों की भारत में स्थापना हो गई थी। इन सब में अंग्रेज ही सर्वाधिक प्रभाव पूर्ण थे। बंगाल भारत का प्रथम प्रान्त था जो ब्रिटिश अधिकार में आया। अठारहवीं शताब्दी का वह धूमिल संध्याकाल था। प्राचीन युग समाप्त हो रहा था, नवीन युग की आगमन बेला थी।

अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना के साथ साथ पाश्चात्य संस्कृति की भी आंधी आई और उसने भारतीय मानस को बुरी तरह झकझोर दिया। भारतवासी राजनैतिक अधिकारों से तो च्युत हो ही रहे थे उनकी नैतिक, सामाजिक और आर्थिक अवस्था भी बड़ी दयनीय हो रही थी। एक अभूतपूर्व सांस्कृतिक संकट में से देश गुजर रहा था। एक ओर यदि कट्टरपंथी (orthodox) लोग थे जो अंधविश्वास, कूपमण्डूकत्व और गतानुगति से ही चिपके रहते थे, तो दूसरी ओर ऐसा नवयुवक वर्ग उत्पन्न हो रहा था जो प्रत्येक स्वदेशी वस्तु को हेय मान कर प्रत्येक बात में पश्चिम की ओर सतृष्ण नेत्रों से देखने और उसी का अनुकरण करने में अपने को धन्य मानता था।

स्कूलों में पश्चिमी पद्धति पर शिक्षा दी जाने लगी थी। ईसाई प्रचारक संस्थाओं ने तो यूरोपीय जाति के भारत प्रवेश के साथ ही अपना काम जोरशोर से प्रारम्भ कर दिया था। उनके द्वारा की गई हिन्दू धर्म और समाज-व्यवस्था की कटु आलोचना ने लोगों के हृदयों को शंका पूर्ण बना दिया था। लोग धड़ाधड़ धर्म परिवर्तन कर ईसाई

बनने लगे। ब्राह्मणों ने जो हिन्दू धर्म के व्यवस्थापक और नेता थे, इस परिस्थिति में, समस्या का कोई उचित समाधान ढूंढ़ने की अपेक्षा ईसाइयों से सम्पर्क करने वाले लोगों को ही समाज से बहिष्कृत करना प्रारम्भ कर दिया।

हिन्दू धर्म का आन्तरिक संगठन भी छिन्न-भिन्न होने लगा था और मूर्ति पूजा, बहुदेवोपासना, सती प्रथा जैसी कुरीतियों के कारण सर्वत्र अराजकता और अव्यवस्था का बोलबाला था। ऐसी असन्तोष जनक स्थिति में बंगाल में ही सर्व प्रथम नवीन युग का सूत्रपात हुआ। इस नवीन जागरण के सूत्रधार थे–राजा राममोहन राय।

अध्याय २

जीवन घटनाओं का तुलनात्मक अध्ययन

महर्षि दयानन्द और राजा राममोहन राय के जीवन में हमें अनेक समानतायें दृष्टिगोचर होती हैं। दोनों महापुरुष उच्च ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुये थे। दयानन्द के पिता करसनजी (कृष्णाजी) तिवारी मालगुजारी वसूल करते थे और मौरवी राज्य में उनकी बड़ी भारी प्रतिष्ठा थी। राम मोहनराय के पिता रामकान्तराय भी बंगाल के एक समृद्ध जमींदार थे। दयानन्द ने किशोर अवस्था में ही वैराग्य धारण करने का निश्चय कर लिया और यौवन की देहली पर पैर रखते-रखते गृह त्याग दिया और सर्व संग परित्यागी परिव्राजक बन गये। राम मोहनराय ने भी सोलह वर्ष की अवस्था में ही गृह त्याग किया, परन्तु घटना चक्र वश वे पुनः गृहस्थ धर्म में प्रविष्ट होने के लिये बाधित हुये।

बाल्यकाल में ही दोनों महापुरुषों के हृदय में मूर्तिपूजा के प्रति अश्रद्धा के भाव उत्पन्न हो गये। बालक मूलशंकर का शिव रात्रि की पुण्य वेला में शिवलिंग पर चूहे को क्रीड़ा करते देख कर मूर्ति पूजा की

यथार्थता में अविश्वास करने लग जाना सचमुच एक चमत्कार पूर्ण घटना थी जिसे सर सैयद अहमदखां ने 'इलहाम' कहा था। परन्तु राम मोहनराय की मूर्ति पूजा में अश्रद्धा होने का एक भिन्न कारण था। बाल्यावस्था में ही उन्होंने अरबी, फारसी का अध्ययन करते समय कुरान भी पढ़ी थी, इस लिये इस्लामी-एकेश्वरवाद के संस्कारों के कारण मूर्ति पूजा से उनको घृणा हो जाना स्वाभाविक था। अतः यह कहने में संकोच न ीं होना चाहिये कि राम मोहनराय की मूर्ति पूजा के प्रति घृणा इस्लाम से प्रभावित थी। इसको सिद्ध करने के लिये प्रमाणों का उल्लेख प्रसंग-वश आगे किया जायगा। यह अवश्य है कि कालान्तर में उन्होंने वेदान्त दर्शन, उपनिषद् आदि निराकार ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाले आर्ष ग्रन्थों का अध्यय कर अपनी इस धारणा को और भी दृढ़ क लिया था।

समान रूप से गृह का परित्याग करने के उपरान्त भी दोनों की प स्थितियाँ भिन्न भिन्न थीं। राम मोहनराय को मूर्ति पूजा के विरुद्ध पुस्तक लिखने के कारण घर छोड़ने के लिये विवश होना पड़ा, इसके विपरीत स्वामी दयानन्द ने तीव्र वैराग्य और तत्व-जिज्ञासा के भाव से प्रेरित होकर निष्क्रमण किया। जिस आयु में (२१ वर्ष) दयानन्द ने घर छोड़ा, उस आयु में तो राम मोहनराय का पुनः अपने घर वालों से मेलजोल स्थापित हो गया था और उन्हें अपने घर में स्थान मिल गया था।

स्वामी दयानन्द की प्रारम्भिक और अन्तिम शिक्षा संस्कृत में हो हुई थी। उन्होंने अपने जीवन-काल में भी संस्कृत और आर्यभाषा हिन्दी के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा का प्रयोग नहीं किया। एक बार लखनऊ में उन्होंने अंग्रेजी सीखने का यत्न प्रारम्भ किया था परन्तु अपने बहुमुखी कार्यों के कारण उसके लिये पर्याप्त समय नहीं निकाल सके। राम मोहनराय की शिक्षा प्रारम्भ से ही अरबी-फारसी में हुई

थी। संस्कृत के वे प्रकाण्ड विद्वान् तो नहीं परन्तु सामान्य जानकार अवश्य थे। इसके अतिरिक्त उन्हें अंग्रेजी, फ्रैन्च, लैटिन, ग्रीक, हिब्रू आदि यूरोप की प्राचीन और अर्वाचीन भाषाओं का अध्ययन ईसाई मत की आलोचना के प्रसंग में करना पड़ा था।

दोनों व्यक्तियों ने भारत वर्ष के उत्तराखण्ड का विस्तृत भ्रमण किया था। इस भ्रमण में उन्हें अपने देश के अनेक मतमतान्तरों और सम्प्रदायों का विशेष ज्ञान प्राप्त हुआ था। राम मोहनराय तो भ्रमण करते २ तिब्बत तक जा पहुँचे थे। स्वामी दयानन्द की केदारनाथ, बद्रीनाथ, उत्तर काशी, तुंगनाथ, त्रियुगी नारायण आदि की यात्रा उनकी भ्रमण शील मनोवृत्ति की परिचायक है।

अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिये दोनों ने ही पुस्तक रचना, शास्त्रार्थ, विचार विमर्श और वाद-विवाद का सहारा लिया। स्वामी दयानन्द प्राचीन पद्धति का अनुसरण करते हुये अपने विरोधी पण्डित के सम्मुख उपस्थित होकर शास्त्रार्थ करते थे यद्यपि उन्होंने छोटी बड़ी पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा भी अपने पक्ष का समर्थन किया है। राम मोहनराय ने अधिकांश में पत्र-पत्रिकाओं द्वारा उत्तर प्रत्युत्तर शैली को ही अपनाया और अपने विरोधियों से लोहा लिया।

ब्राह्म समाज स्थापित करने के लिये राम मोहनराय को यूनीटेरियन ईसाई चर्च की कार्यप्रणाली का अनुकरण करना पड़ा, परन्तु स्वामी दयानन्द ने जब आर्यसमाज की स्थापना की तो उनके समक्ष ब्राह्म-समाज, प्रार्थना समाज आदि संस्थाओं का आदर्श उपस्थित था, अतः इन्हें इस कार्य में विशेष बाधा नहीं हुई। वे तो ब्राह्मसमाज और प्रार्थना समाज को ही अपने सिद्धान्तों के अनुकूल परिवर्तित करना चाहते थे, परन्तु ब्राह्म लोगों के वेद के स्वतः प्रमाणत्व के सिद्धान्त को स्वीकार न करने के कारण यह कार्य सम्भव नहीं हो सका।

राम मोहनराय विलायत यात्रा के लियेबड़े उत्थे सुक और अव-

सर तथा सुविधा मिलने पर वे इंगलैण्ड गये भी। स्वामी दयानन्द इस विषय में अधिक शीघ्रता नहीं करना चाहते थे। जब ब्राह्म नेता केशव-चन्द्र सेन ने कलकत्ता में उनके समक्ष विलायत यात्रा का प्रस्ताव रक्खा तो उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि पहले मैं भारत को ही सुधारना चाहता हूं। यहाँ का कार्य समाप्त होने पर ही, जिसकी कोई अधिक संम्भावना नहीं थी, विलायत प्रचार की बात सोची जा सकती है।

राम मोहनराय की मृत्यु स्वदेश तथा अपने परिजनों और मित्रों से दूर इंगलैण्ड के ब्रिस्टल नगर में हुई जहाँ उनके पास तीन भारतीय सह यात्री और मित्र उपस्थित थे। स्वामी दयानन्द का देहान्त भारत की पवित्र भूमि पर ही हुआ, उस समय उनके अनुयायी और भक्तगण बड़ी संख्या में उनके समीप ही उपस्थित थे। विदेश में मृत्यु होने के कारण राजा महोदय का अन्तिम संस्कार ईसाई पद्धति से हुआ और उनका मृत शरीर भूमिगत कर दिया गया। भारत के एक महान हिन्दू सुधारक का उसकी मातृभूमि से दूर यह दुखद अन्त था।

अध्याय ३

शास्त्र प्रमाण वाद

धार्मिक सिद्धान्तों का विवेचन और निर्णय शास्त्रों के प्रमाण की अपेक्षा रखता है। इस लिये वैदिक धर्म में शास्त्रों का सर्वोपरि महत्व स्वीकार किया गया है। भगवान् कृष्ण ने गीता में शास्त्रों के महत्व के विषय में लिखा है:—

यः शास्त्र विधिमुत्सृज्य वर्तते काम कारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ।

ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ १

जो वेदादि शास्त्रों के विरुद्ध अपनी इच्छा के अनुसार चलता है उसको न सिद्धि प्राप्त होती है, न सुख और न परलोक में सद्गति ही मिलती है। इस लिये कर्तव्य और अकर्तव्य के निर्धारण के लिये शास्त्र ही प्रमाण हैं। शास्त्र का विधान जान कर ही कर्म करना चाहिये।

वस्तुतः शास्त्र प्रमाण ही वह कसौटी है, जिसके आधार पर किसी सिद्धान्त के सत्यासत्य होने की परीक्षा होती है। न्याय दर्शन में जो चतुर्विध प्रमाण बताये गये हैं उनमें शब्द प्रमाण भी एक है। न्याय ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गई है।

आप्तोपदेश शब्दः। २

अर्थात् आप्त पुरुषों का उपदेश शब्द प्रमाण के अन्तर्गत आता है। इस सूत्र की व्याख्या में ऋषि दयानन्द लिखते हैं—"जो आप्त अर्थात् पूर्ण विद्वान्, धर्मात्मा, परोपकार प्रिय, सत्यवादी, पुरुषार्थी, जितेन्द्रिय पुरुष जैसा अपनी आत्मा में जानता हो और जिससे सुख पाया हो उसी के कथन की इच्छा से प्रेरित सब मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेष्टा हो, अर्थात् (जो) जितने पृथ्वी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होकर उपदेश होता है। जो ऐसे पुरुष और पूर्ण आप्त परमेश्वर के उपदेश वेद हैं उन्हीं को शब्द प्रमाण जानो।" ३

इस प्रकार शास्त्र दो प्रकार के हैं। अपौरुषेय शास्त्र वेद हैं, जिनका ज्ञान सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा की कृपा से ऋषियों के हृदय में हुआ। ईश्वर रचित होने के कारण वेद स्वतः प्रमाण हैं और वेदातिरिक्त अन्य ऋषि मुनियों के ग्रन्थ परतः प्रमाण हैं। वेद के अनुकूल होने से ही उनको प्रामाणिक माना जाता है और वेद विरुद्ध होने पर

---

१ श्रीमद्भगद्गीता १६।२३,२४

२ न्याय दर्शन १।१।७

३ सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास

उनकी प्रामाणिकता स्वीकार नहीं की जा सकती। शास्त्र प्रमाण का यह सिद्धान्त ब्रह्मा और मनु आदि से लेकर दयानन्द पर्यन्त ऋषि मुनियों को मान्य रहा है और इसी का अनुसरण कर सदा से भारत के ऋषि मुनि विद्वान और पण्डित धर्मालोचना में प्रवृत्त होते रहे हैं। ऐसा समय अवश्य आया था जब कि लोगों में वेद ज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण अनेक कुसंस्कारों और पाखण्डों का समावेश हो गया था, परन्तु शास्त्र प्रमाण का संस्कार उनके हृदयों में उस समय भी बद्धमूल रहा और जब कभी उन्हें यह कहा गया कि अमुक कार्य शास्त्र विरुद्ध है, तो उसे छोड़ने में वे सदा तत्पर रहे।

प्रस्तुत अध्याय में हमें राम मोहनराय और स्वामी दयानन्द के शास्त्र प्रमाण विषयक मन्तव्यों की मीमांसा करनी है। इस प्रकरण को प्रारम्भ में ही रखने का एक मुख्य उद्देश्य यह है कि राम मोहनराय और ऋषि दयानन्द धार्मिक आलोचना और वाद विवाद तथा शास्त्रार्थ के लिये शास्त्रों का ही सहारा लेते थे। उनके मूर्ति पूजा तथा एकेश्वर-वाद विषयक मन्तव्य भी शास्त्र प्रमाण की भित्ति पर ही टिके हुये हैं, इस लिये हमें उन पर विचार करने से पूर्व यह देखना होगा कि शास्त्र प्रमाण के सिद्धान्त को दोनों महापुरुषों ने किस रूप में स्वीकार किया है और इस विषय में उनका क्या मत है ?

शास्त्रों की महत्ता के विषय में राम मोहनराय का मत निश्चित करने के लिये उनके ग्रन्थों में पाये जाने वाले एतद्विषयक विचार हमारे सहायक होंगे। एक स्थान पर वे लिखते हैं—

'The validity of the theological controversy chiefly depends upon scriptural authority." [1]

अर्थात् धार्मिक शास्त्रार्थ और वाद विवाद की सत्यता प्रधानतः शास्त्रीय प्रमाणों पर निर्भर करती है। अब प्रश्न यह है कि 'शास्त्र'

---

1 Monotheistical system of the Vedas. P. 113.

शब्द के अन्तर्गत किन ग्रन्थों को लिया जाय ? क्या संस्कृत भाषा में अद्यावधि जो कुछ लिखा गया है वह सभी शास्त्र है ? क्या शीघ्रबोध, मुहूर्त चिन्तामणि, धर्म सिंधु, निर्णय सिंधु, महिम्न स्तोत्र और गोपाल सहस्रनाम, पुराण और तंत्र आदि ग्रन्थों का भी मान्य वेदों और उपनिषदों के तुल्य ही करना होगा ? अथवा कोई कसौटी भी है जिसके आधार पर शास्त्रों की सत्यता और असत्यता तथा प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता का विचार किया जा सके। हिन्दुओं के प्रचलित विश्वास के अनुसार तो प्रत्येक संस्कृत पुस्तक को ही शास्त्र की संज्ञा दी जा सकती है चाहे उसमें ईश्वरीय व्यवस्था और सृष्टिक्रम के विरुद्ध कुछ भी क्यों न लिखा हो। "बाबा वाक्यं प्रामाण्यं" की उक्ति ऐसे लोगों पर पूर्ण तया चरितार्थ होती है। परन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। न तो प्रत्येक संस्कृत ग्रन्थ ही शास्त्र कहला सकता है और न उसे प्रामाणिक ही माना जा सकता है। वेद की अनुकूलता एक ऐसी अनिवार्य शर्त है जिसके आधार पर ही किसी ग्रन्थ को शास्त्र की संज्ञा दी जा सकती है, वेद विरुद्ध होने से वह ग्रन्थ कदापि प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। ऐसे ग्रन्थ अनार्ष हैं, शास्त्र नहीं शास्त्राभास हैं।

राजा राम मोहनराय को यह मत शत प्रतिशत मान्य था, इस लिये वे मनु की साक्षी देकर लिखते हैं—

A commonly received rule for ascertaining the authority of any book is this, that whatever book opposes the Veda, is destitute of authority. "All smrities which are contrary to the Vedas, and all atheistical works, are not conducive to future happiness: they dwell in darkness." Manu [1]

अर्थात् किसी ग्रन्थ के प्रमाण का निश्चय करने के लिये सर्व साधारण नियम यह है कि जो ग्रन्थ वेद के विरुद्ध है वह अप्रामाणिक है। जैसा कि मनु ने कहा है—वे सब स्मृतियाँ जो वेदों के विरुद्ध हैं और जिन्हें

[1] The Brahmunical Magazine No. 2, P. 162.

स्वार्थियों ने बनाया है, वे सब तमोगुण से युक्त और निष्फल हैं।१

ऋषि दयानन्द का मत भी सर्वांश में इसके अनुकूल है। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के ग्रन्थप्रामाण्या-प्रामाण्य विषय के अन्तर्गत ऋषि की निम्न सम्मति द्रष्टव्य है—

"ये ग्रन्था वेद विरोधिनो वर्त्तन्ते नैव तेषां प्रामाण्यं स्वीकर्त्तुं योग्यमस्ति। वेदानां तु खलु अन्येभ्यो ग्रन्थेभ्यो विरोधादप्यप्रामाण्यं न भवति, तेषां स्वतः प्रामाण्यात्तद्भिन्नानां ग्रन्थानां वेदाधीन प्रामाण्याच्च।"२

अर्थात् जो जो ग्रन्थ वेदों से विरुद्ध हैं वे कभी प्रमाण वा स्वीकार करने के योग्य नहीं होते। और वेदों का अन्य ग्रन्थों के साथ विरोध भी हो तब भी अप्रमाण के योग्य नहीं ठहर सकते क्यों कि वे तो अपने ही प्रमाण से प्रमाण युक्त हैं उनसे भिन्न ग्रन्थों की प्रामाणिकता वेदों के अधीन है।

जहाँ श्रुति और स्मृति३ में विरोध होता है, वहाँ श्रुति का प्रमाण ही मान्य होता है, स्मृति का नहीं, अर्थात् श्रुति का गौरव सर्वोपरि है। इस सिद्धान्त को राम मोहनराय ने निम्न पंक्तियों में स्फुट किया है—

"The Hindoo puranas and Tantras are subordinate to the Veda, but are not the Veda itself: When they disagree with the Veda their authority is not regarded.

'When the Veda and the Puranas disagree the Veda must be regarded; pious men will always explain the puranas etc., in agreement with what the Veda declares"

---

१ या वेद बाह्य स्मृतया याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फला प्रेत्य तमोनिष्ठा हिताः स्मृताः॥ १२।९५

२ ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृ० ३४७

३ स्मृति के अन्तर्गत इतिहास, पुराण और धर्म शास्त्रों की भी गणना हो सकती है।

(Quotation by the Smartta.)[1]

हिन्दुओं के पुराणों और तंत्रों का दर्जा वेदों से नीचे है। ये ग्रन्थ स्वयं वेद नहीं हैं। जब ये वेदों के अनुकूल नहीं होते तो उनका प्रमाण नहीं माना जाता। किसी स्मार्त प्रमाण का उल्लेख करते हुये राममोहनराय लिखते हैं कि जब वेद और पुराणों में मतभेद हो तो वेद का ही प्रमाण माना जाना चाहिये। धार्मिक लोग पुराण आदि ग्रन्थों की व्याख्या वेद प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुकूल ही करते हैं।

वेदों के पश्चात् स्मृतियों का प्रमाण शास्त्रकारों ने स्वीकार किया है।२ वैसे तो वर्तमान समय में अनेक स्मृति नामधारी ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, परन्तु प्रामाणिक स्मृतियों में मनुस्मृति की ही गणना होती है। इसका कारण यह है कि अन्य ऋषियों के नाम से मिलने वाली स्मृतियाँ नवीन अनार्ष रचनायें हैं जिनकी रचना समय समय पर स्वार्थी लोगों ने की हैं। इस लिये ऋषि दयानन्द ने अपनी पठन पाठन विधि में मनुस्मृति को ही स्थान दिया है और मनुस्मृति में भी प्रक्षिप्त श्लोकों और अन्य सब उपलब्ध स्मृतियों को त्याज्य ग्रन्थों में स्थान दिया है।३

राम मोहनराय भी इस सिद्धान्त से सर्वथा सहमत थे। वे भी मनुस्मृति को ही वेदानुकूल मानते थे और उसकी प्रामाणिकता अन्य स्मृतियों की अपेक्षा से अधिक समझते थे। उन्होंने सती प्रथा के विरोध में जो एक पुस्तक लिखी है उसमें अंगिरा स्मृति आदि अनार्ष स्मृतियों को मनु के विरुद्ध होने के कारण त्याज्य माना है। वे लिखते हैं—

"The laws given by ngira and others being contrary to the laws of Ma u, cannot be accepted; because

1 The Brahmu ic l Magazine No 2, P. 164.

२ वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ मनु० २।१२

३ सत्यार्थ प्रकाश—तृतीय समुल्लास के अन्तर्गत पठन-पाठन विधि।

the Veda declares,[1] "whatever Manu has said is wholesome", and Vrihaspati, "whatever law is contrary to the law of Manu is not commendable."[2]

अर्थात् अंगिरा आदि तथा कथित स्मृतिकारों द्वारा प्रतिपादित नियम मनु के विरुद्ध होने से स्वीकार नहीं किये जा सकते क्योंकि वेद (वस्तुतः ब्राह्मण ले०) कहता है—मनु ने जो कुछ कहा है वह पूर्ण रूप से प्रामाणिक है। बृहस्पति भी यही कहता है कि जो नियम मनु की विधि के प्रतिकूल हैं वे प्रशंसनीय नहीं हैं।

मनुस्मृति की प्रामाणिकता को जब राम मोहनराय ने इस प्रकार स्पष्ट रूप से घोषित किया तो सती प्रथा के समर्थकों ने एक नवीन युक्ति उनके समक्ष प्रस्तुत की। उन्होंने कहा कि मनु के विपरीत यदि कोई एक स्मृतिकार हो तो उसका कथन भले ही अप्रामाणिक हो, परन्तु जब एकाधिक धर्मशास्त्रकार मनु के विरुद्ध सम्मिलित रूप से अपनी सम्मति प्रकट करें तो ऐसी स्थिति में मनु का विरोध कोई विशेष महत्व नहीं रखता। उनके कथन का अभिप्राय यह था कि जब अंगिरा, विष्णु, हारीत आदि अनेक स्मृतिकार सती प्रथा के समर्थन में अपनी सम्मति देते हैं तो उनके समक्ष मनु के विरोध का कोई महत्व नहीं रहता और इस प्रकार सती प्रथा को शास्त्रीय अनुमोदन मिल जाता है।

राम मोहनराय ने इस स्थापना का भी खण्डन किया और एक प्राचीन ऋषि के स्वर में स्वर मिला कर कहा—

"यत किञ्चिन्मनुरवदत्तद्भेषजं।"

"Whatever Manu lays down, that is commendable."[3]

---

१ वस्तुतः यह वेद का वचन नहीं, ब्राह्मण ग्रन्थ का वचन है। राम मोहनराय संहिता और ब्राह्मण भाग को एक ही मानते थे।—लेखक

2 Conference between an advocate for, and an opponent of, the practice of Burning widows alive. P. 325

3 Second conference on the practice of burning widows alive. P. 343.

जो कुछ मनु ने कहा है वह औषधि के तुल्य है। उन्होंने इस तर्क को स्वीकार नहीं किया कि मनु के विरुद्ध सम्मति रखने वाले एकाधिक शास्त्रकारों का मत ग्राह्य हो सकता है। इसका कारण यह है कि मनु ने जो कुछ कहा है वह सम्पूर्णरीत्या वेदानुकूल है।[१] अतः मनु के विरुद्ध स्मृतियाँ स्वभावतः वेद विरुद्ध हो जाती हैं और वेद विरुद्ध स्मृतियों का प्रमाण नहीं माना जा सकता। उन्होंने कहा—

"Whatever law is inconsistent with the code of Manu, which is the substance of the Veda, is really inconsistent with the Veda itself, and therefore inadmissible."[2]

मनु की विधि (जो कि वेदों का सार है) के विपरीत जो भी नियम आदि हैं, वे वेद के अनुकूल न होने के कारण अग्राह्य हैं।

राम मोहनराय ने शास्त्र प्रामाण्य के विषय में जो अन्तिम निष्कर्ष निकाला वह निम्न लिखित है—

"The authority of the Veda though single can not be set aside by the concurrent authorities of a hundred lawgivers; and in like manner the authority of Manu which is derived immediately from the Veda, cannot be set aside by the contradicting authorities of the others either singly or collectively."[3]

अर्थात् वेद के एक प्रमाण के विरुद्ध धर्म शास्त्रकारों के सैकड़ों प्रमाण भी कोई महत्व नहीं रखते। इसी प्रकार मनु की साक्षी के विरुद्ध मत रखने वाले शास्त्रकार चाहे एक हों या एक से अधिक, मनु के

---

१ य कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्व ज्ञानमयो हि सः॥ मनु० २।७

2 ibid P. 343.

3 ibid. P. 345.

महत्व को कम नहीं कर सकते, इसका कारण यह है कि मनु की शिक्षायें सीधी वेदों से ली गई हैं।

स्मृति के पश्चात् मनु ने सदाचार को प्रमाण माना है। जिस कर्तव्य कर्म में श्रुति और स्मृति का न तो प्रत्यक्ष विधान हो और न निषेध हो, वहाँ देश, काल, पात्र और महापुरुषों के आचरण को देख कर धर्म का निश्चय किया जाता है। मनु ने इसे धर्म का तृतीय लक्षण माना है। ऋषि दयानन्द ने मनु के श्लोक का अर्थ करते हुए लिखा है— "वेद, स्मृति, वेदानुकूल आप्तोक्त मनुस्मृति आदि शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार जो सनातन अर्थात् वेद द्वारा परमेश्वर प्रतिपादित कर्म और अपने आत्मा में प्रिय अर्थात् जिसको आत्मा चाहता है जैसा कि सत्य-भाषण, ये चार धर्म के लक्षण अर्थात् इन्हीं से धर्मा-धर्म का निश्चय होता है।" १

राम मोहनराय भी शिष्ट जनोचित आचार को सदाचार के रूप में प्रमाण मानते हैं। उन्होंने एक संस्कृत श्लोक २ को उद्धृत करते हुए लिखा है—

"In those matters in which neither the Vedas nor the lawgivers give either direct sanction or prohibition, the customs of a country or of a race may be observed."[3]

अर्थात् जहाँ वेदों और स्मृतियों की साक्षात् विधि और निषेध की आज्ञायें उपलब्ध न हों वहाँ देश या जाति के आचार के अनुसार ही धर्म का निरूपण करना चाहिये।

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि राम मोहनराय

---

१ सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास

२ न यत्र साक्षाद्विधयो न निषेधाः श्रुतौ स्मृतौ।
देशाचार कुलाचारैस्तत्र धर्मो निरूप्यते॥ स्कन्द पुराण

[3] ibid P. 353.

और दयानन्द के श्रुति एवं स्मृति प्रमाण के सिद्धान्तों में मौलिक एकता है। अब हम शास्त्रों से सम्बन्ध रखने वाली कुछ अन्य समस्याओं पर विचार करते हैं। शास्त्रों का सूक्ष्म अध्ययन करने वालों से यह बात छिपी नहीं है कि इन ग्रन्थों में समय समय पर धूर्त लोगों ने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये प्रक्षेप किये हैं। एक वेद को छोड़ कर कोई ऐसा धर्म ग्रन्थ नहीं है जिसमें कालान्तर में मिश्रण न हुआ हो। वेदों में मिश्रण न हो सकने का एक प्रमुख कारण यह था कि वेदों की रक्षा के लिये ब्राह्मणों ने अत्यन्त कुशलता से काम लिया। वेदों के पद-पाठ, क्रमपाठ, जटापाठ, मालापाठ आदि जो विभिन्न प्रकार के पाठ हैं उनसे वेदों के प्रत्येक सूक्त, मंत्र, पंक्ति और अक्षर तक की सुरक्षा सम्भव हो सकी। अस्तु

ब्राह्मण, उपनिषद्, महाभारत, रामायण, मनुस्मृति आदि सभी ग्रन्थों में समय २ पर प्रक्षेप हुये हैं। धूर्त लोगों ने तो व्यास आदि महर्षियों के नाम से अनेक ग्रन्थों की रचना की और सर्व साधारण में उन्हें पुराणों के नाम से प्रसिद्ध किया। ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में स्पष्ट प्रमाणों के आधार पर यह बताया है कि प्रक्षेपों के कारण किस प्रकार महाभारत जैसे इतिहास ग्रन्थ की कलेवर वृद्धि हुई और राजा भोज के राज्य में व्यास जी के नाम से मारकण्डेय और शिव पुराण बनाये गये। इसी प्रकार वाम मार्गियों ने 'शिव उवाच', 'पार्वत्युवाच', 'भैरव उवाच' आदि लिख लिख कर तंत्र ग्रन्थ बनाये।

राम मोहनराय भी शास्त्रों के नाम पर रची जाने वाली इन साम्प्रदायिक पोथियों और शास्त्रों में किये जाने वाले इस मिश्रण से अनभिज्ञ नहीं थे। वह यह मानते थे कि क्षेपक अंशों के मिल जाने के कारण शास्त्रों का रूप अत्यन्त विकृत होया है और ऐसी परिस्थिति में उन पर सर्वांश में विश्वास नहीं किया जा सकता। उन्होंने अपनी सती विषयक एक पुस्तक की पाद टिप्पणी में जो विचार प्रकट किये हैं, वे

ऋषि दयानन्द के उपर्युक्त विचारों से काफी मिलते जुलते हैं। उन्होंने लिखा है—

"Hindoos are persuaded to believe that Vyasa composed and left behind him numerous and voluminous works under different titles as Maha puranas, Sanhitas, Smrities etc, to an extent that no man, during the ordinary course of life could prepare These, however, with a few exceptions, exist merely in name, and those that are genuine bear the commentaries of celebrated authors So the Tantras, or works ascribed to Siva as their author, are esteemed as consisting of innumerable millions of volumes, though only a very few, comparatively, are to be found. Debased characters among this unhappy people, taking advantage of this circumstance, have secretly composed forged works and passages, and published them as if they were genuine, with the view of introducing new doctrines, new rites, or new prescripts of secular law. Although they have frequently succeeded by these means in working on the minds of the ignorant, yet the learned have never admitted the authority of any passage or work alleged to be sacred, unless it has been quoted or expounded by one of the acknowledged and authoritative commentators "[1]

अर्थात् हिन्दुओं को यह मानने के लिये प्रेरित किया जाता है कि व्यास ने पुराणों, संहिताओं और स्मृतियों के रूप में अनेक वृहत्काय ग्रन्थों की रचना की। आकार की दृष्टि से यह तथाकथित व्यास रचित साहित्य इतना बड़ा है कि कोई व्यक्ति अपने सामान्य जीवन में इसकी

[1] Abstract of arguments regarding burning of widows. Foot Note on P. 371.

रचना नहीं कर सकता। ये ग्रन्थ, कुछ अपवादों को छोड़ कर केवल नाम मात्र का ही अस्तित्व रखते हैं और जो प्रामाणिक हैं, उन पर मान्य विद्वानों की टीकायें हैं। इसी कोटि के तंत्र ग्रन्थ हैं जिनके लेखक शिव माने जाते हैं और संख्या की दृष्टि से अगणित माने जाने पर भी सम्प्रति बहुत थोड़े मिलते हैं। इस अभागे देश के धूर्त लोगों ने परिस्थितियों का लाभ उठाकर ऐसे ऐसे प्रक्षिप्त अंशों का मिश्रण और नवीन ग्रन्थों का निर्माण किया है मानों वह सम्पूर्ण रूप से प्रामाणिक हैं। ऐसा करने में उनका उद्देश्य नये सिद्धान्तों, नई विधियों और नये लौकिक व्यवहारों का प्रचार करना था। यद्यपि अपने इन कार्यों के द्वारा वे अज्ञ जनों के मस्तिष्क पर कुछ प्रभाव डालने में समर्थ हुये हैं, परन्तु विद्वानों ने ऐसे तथाकथित धर्म ग्रन्थों को तब तक कभी प्रामाणिक स्वीकार नहीं किया जब तक कि उन पर किसी प्रामाणिक और प्रख्यात भाष्यकार की टीका या भाष्य उपलब्ध न हुआ हो। १

पुराणों और तंत्रों में जो वेद विरुद्ध साम्प्रदायिक बातें भरी पड़ी हैं उनसे राम मोहनराय भी परिचित थे। वे यह भी जानते थे कि इन ग्रन्थों में देवी देवताओं की कलंक गाथायें इतने निर्लज्जता पूर्ण ढंग से कही गई हैं, जिन्हें पढ़ कर लज्जा को भी लज्जा आती है। उन्हें यह भी ज्ञात था कि इन ग्रन्थों में नाना प्रकार की असम्भव, कपोल कल्पित, और अश्लील कथायें भरी पड़ी हैं जिनका पठन पाठन शिष्ट समाज के लिये घोर लज्जा जनक है। इसी लिये ऋषि दयानन्द ने पुराणों और तंत्रों को प्रामाणिक ग्रन्थों की सूची से हटा कर त्याज्य ग्रन्थों की सूची में स्थान दिया था। पुराणों की ऐसी ही अश्लील कथाओं की ओर

---

१ तुलना कीजिये—"जिन ग्रन्थों की टीका या भाष्य किसी प्रसिद्ध व सर्व जन स्वीकृत आचार्य का लिखा हुआ नहीं है वह ग्रन्थ भी अनार्ष श्रेणी युक्त है।" विरजानन्द चरित ले० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय पृ० १११ आर्ष ग्रन्थों के लक्षण।

संकेत करते हुये राम मोहनराय लिखते है--

"Puranas represent the creating attribute or Brahma in one instance as attempting to commit a r pe upon his own daughter. The protecting attribute, or Vishnu, is in another place affirmed to have fraudulently violated the chastity of Brinda in order to kill her husband. Siva the destroying attribute, is said to have had a criminal attachment to Mohini, disregarding all ideas of decency. And a thousand similar examples must be familiar to every reader of Puranas."[1]

अर्थात्, पुराणों में विश्व के स्रष्टा ब्रह्मा का चित्रण अपनी पुत्री से लाकार करने की चेष्टा में उद्यत व्यक्ति के रूप में किया गया है। संसार के पालक विष्णु, एक अन्य स्थान पर छल से वृन्दा का सतीत्व नष्ट करते हुये चित्रित किये गये हैं। इसी प्रकार विश्व के नाशक शिव के लये कहा गया है कि उनका मोहिनी के साथ अवैध सम्बन्ध था। ये सारी कथायें शिष्टजनों की मनोवृत्ति के प्रतिकूल हैं। पुराणों के पाठक ऐसे अन्य हजारों उदाहरणों से परिचित हैं।

इसी प्रकार तंत्रों के विषय में लिखते हुये राम मोहनराय कहते हैं--

"The stories respecting Mahadeva which are read by his devotees in the Tantras, are of a nature that; if told to any man, would be offensive to the ears of the most abandoned of either sex. In the worship of Kali, human sacrifices, the use of wine, criminal intercourse, and licentious songs are included."[2]

अर्थात् महादेव के विषय में जो कथायें तंत्रों में लिखी गई हैं और जिनका भक्त-जन पाठ करते हैं, वे इस प्रकार की हैं कि यदि किसी

---

1 A defence of Hindoo Theism. P. 97

2 A defence of Hindoo Theism. P. 99

व्यक्ति को कही जाय तो अत्यन्त भद्दी और अश्लील लगेगी। इसी प्रकार काली की उपासना में नरबलि, शराब का प्रयोग, मैथुन, और कामोत्तेजक गीत आदि समाविष्ट किये गये हैं।

स्वामी दयानन्द ने तंत्रों और पुराणों की कुशिक्षाओं का वर्णन सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में किया है। दोनों महानुभावों की सम्मति से परिचित होने के पश्चात् किसी व्यक्ति के मन में पुराणों और तंत्रों के विषय में अच्छी धारणा नहीं रह सकती। यही कारण है कि राम मोहनराय ने भी इन ग्रन्थों को अधिक महत्व नहीं दिया है।

जहाँ तक वेदों का सम्बन्ध है, राम मोहनराय और दयानन्द के विचारों में पर्याप्त साम्य दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि राम मोहनराय का वेद विषयक शास्त्रीय ज्ञान अत्यन्त स्वल्प था, परन्तु फिर भी वे ऋषि दयानन्द की ही भांति वेद को ईश्वरीय ज्ञान स्वीकार करते थे और उसे सब भौतिक और आध्यात्मिक विद्याओं का मूल मानते थे। सचमुच यह आश्चर्य और साथ ही संतोष का विषय है कि दोनों महापुरुष वेदों को सब सत्य विद्याओं की पुस्तक मानते हैं। जो लोग[१] स्वामी दयानन्द पर यह आक्षेप करते हैं कि उन्होंने अपनी क्लिष्ट कल्पना द्वारा यह कपोल कल्पित सिद्धान्त प्रचारित किया है कि वेद में विज्ञान की विविध बातों का समावेश है, उन्हें ध्यान-पूर्वक राम मोहनराय के निम्न शब्दों को पढ़ना चाहिये जहाँ उन्होंने भी वेदों में ज्योतिष, वैद्यक ग्रहविद्या आदि विविध लौकिक विद्याओं का अस्तित्व स्वीकार किया है। राम

---

१ उदाहरण के लिये पं० बलदेव उपाध्याय जिन्होंने निम्न पुस्तकों में महर्षि पर इस विषय के आक्षेप किये हैं—

(१) आचार्य सायण और माधव पृ० १२३ प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। २००३ वि०

(२) वेद भाष्य भूमिका संग्रह प्रस्तावना पृ० २० प्र० चौखम्भा संस्कृत सिरीज काशी सन् १९३४ का संस्करण।

मोहनराय अपनी पुस्तक "A defence of Hindoo Theism" में लिखते हैं—

"The vedas not only treat of astronomy, medicine and arms, but also of morality and natural philosophy, and that all arts and sciences that are treated in other shastras, were originally introduced by the Vedas."[1]

अर्थात् वेदों में न केवल ज्योतिष् , वैद्यक और शस्त्रास्त्रों का ही वर्णन है, अपितु उसमें आचार शास्त्र और प्रकृति विज्ञान का भी विवेचन मिलता है। सारी कलाओं और विज्ञानों का जो विशद विवेचन अन्य शास्त्रों में मिलता है वह अपने मूल रूप में वेदों में विद्यमान है।

ऋषि दयानन्द राम मोहनराय के इस विचार से शत प्रतिशत सहमत हैं। उन्होंने इस विषय का विशद रूप से विवेचन अपने ग्रन्थों में किया है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेद मंत्रों के प्रमाणों से सिद्ध किया गया है कि वेद में सृष्टि विद्या, भूगोल, खगोल, गुरुत्वाकर्षण, गणित, नौका, विमान, तार, आयुर्वेद आदि वैज्ञानिक विषय, राज शास्त्र, वर्णाश्रम आदि सामाजिक विषय और ईश्वर स्तुति प्रार्थनोपासना मुक्ति आदि आध्यात्मिक विषयों का समावेश है।

ऋषि दयानन्द के इस सिद्धान्त की योगी अरविद ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। वे लिखते हैं—

There is nothing fantastic in Dayanand's idea that the Veda contains truth of science as well as truth of religion. I will even add my own conviction that the Veda contains other truths of a science, the modern world does not possess at all, and in that case Dayanand has rather understated than overstated the depth and

---

१ पृ० ६५

range of the Vedic wisdom."[1]

अर्थात् स्वामी दयानन्द के इस विचार में कि वेद में न केवल धर्म के किन्तु विज्ञान के सत्य का भी मूल है, कुछ भी कल्पित बात नहीं है। मेरा अपना तो यह भी विश्वास है कि वेद में एक ऐसे विज्ञान की सचाई का प्रतिपादन है जिससे वर्तमान जगत सर्वथा अनभिज्ञ है और इस अवस्था में स्वामी दयानन्द ने वैदिक ज्ञान की गम्भीरता बताने में न्यूनोक्ति ही की है अत्युक्ति नहीं।

वेदों के प्रति श्रद्धा और सम्मान का भाव होते हुये भी राम मोहनराय अपने धर्मान्दोलन में वेदों की अधिक सहायता नहीं ले सके और न वेद को अपने सुधार कार्य का आधार ही बना सके। इसका कारण स्पष्ट है। उस समय तक वेदों का वास्तविक ज्ञान लुप्तप्राय सा था। यह तो दयानन्द की आर्ष प्रतिभा का ही अपूर्व चमत्कार था कि उन्होंने अज्ञान तिमिराच्छन्न आकाश में वेदमार्तण्ड का प्रकाश फैला कर एक बार पुनः दिग्दिगन्त को उद्भासित कर दिया। राम मोहनराय ने वेद प्रमाण की महत्ता को घोषित अवश्य किया है, परन्तु उनकी गति केवल उपनिषदों तक ही थी। वास्तव में उनके धर्म को वैदिक धर्म की अपेक्षा औपनिषदिक धर्म कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। प्रसिद्ध योगी और विचारक अरविंद ने दयानन्द और राम मोहनराय के सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है—

"Ram Mohan Roy stopped short at the Upnishads, Dayanand looked beyond and perceived that our true original seed was the veda."[2]

अर्थात् राम मोहनराय उपनिषदों पर आकर ही रुक गये। दयानन्द ने इससे आगे देखा और निश्चय किया कि हमारे धर्म का मूल बीज तो वेद में निहित है।

---

[1] Dayanand and Veda.

[2] Dayanand : the man and his work. P, 10.

जे० एन० फर्कुहर ने अपनी पुस्तक Modern Religious Movements in India में भी यही बात लिखी है। वे लिखते हैं—

'The Vedas alone from which a true knowledge of Hinduism can be obtained were inaccessible to him, only the Upnishads being available."[1]

अर्थात् वेद जिनसे कि हिन्दू धर्म का वास्तविक ज्ञान हो सकता है, उनको पहुँच के परे थे। केवल उपनिषद् ही उन्हें प्राप्त हो सके। एक अन्य ईसाई लेखक की भी यही धारणा है—

"The reformer slighting the study of the Vedas, gave special attention to the Upnishads."[2]

अर्थात् राम मोहनराय ने वेदों के अध्ययन की उपेक्षा की और उपनिषदों की ओर विशेष ध्यान दिया।

राम मोहनराय के समय में लोगों में यही धारणा प्रचलित थी कि उपनिषद्, ब्राह्मण और आरण्यक आदि सभी ग्रन्थ वेद हैं, इस लिये उपनिषद्ों को ही वेदों का स्थानापन्न समझ कर ब्राह्म समाज की स्थापना की गई। संहिता भाग ही वेद है, यह सिद्धान्त ऋषि दयानन्द ने राम मोहनराय के अनेक वर्ष पश्चात् स्थापित किया। उन्होंने अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध किया कि ब्राह्मण और उपनिषद् वेदों के अन्तर्गत नहीं आते, वे ऋषि कृत ग्रन्थ हैं और उनमें लौकिक इतिहास का समावेश है। कात्यायन के नाम से प्रचलित "मंत्रब्राह्मणयोर्वेद नामधेयम्" इस सूत्र का सप्रमाण खण्डन ऋषि दयानन्द ने ही किया। ३

यह सब कुछ होते हुये भी हम यह कहने के लिये बाध्य हैं कि

---

[1] P. 37.

[2] Dialogues on Hindu religion by Rev. T. A. M. Gerbier. P. 329.

३ सत्यार्थ प्रकाश—सप्तम समुल्लास

राम मोहनराय के शास्त्र प्रमाण विषयक विचार उतने स्पष्ट नहीं थे, जितने ऋषि दयानन्द के। दयानन्द ने तो वेदों के स्वतः प्रमाणत्व, वेद से अविरुद्ध ग्रन्थों के परतः प्रमाणत्व और वेद विरुद्ध ग्रन्थों के अप्रमाणत्व का सिद्धान्त घोषित कर एक लुप्त परम्परा का ही प्रचलन किया जो शास्त्र से तो अनुमोदित थी ही, साथ ही युक्तिवाद और उपयोगिता की दृष्टि से भी जिसका कम महत्व नहीं था। उन्होंने वेद विरुद्ध होने के कारण तंत्र और पुराण आदि ग्रन्थों को सर्वथा अनार्ष और परित्याग के योग्य बताया। पूर्व पक्षी के पूछने पर उन्होंने यह तो स्वीकार किया कि इनमें थोड़ा सत्य है; परन्तु इसके साथ ही बहुत सा असत्य भी है, इस लिये विष सम्पृक्त अन्न के समान ये ग्रन्थ त्याज्य ठहराये गये। जब उनसे पुनः पूछा गया कि इन अनार्ष ग्रन्थों में भी जो सत्य का अंश है उसे क्यों नहीं स्वीकार करते। उत्तर में उन्होंने कहा कि पुराणों में जो कुछ सत्य है वह वेदादि सत्य शास्त्रों का है और जो मिथ्या है वह उनके घर का है। परन्तु यदि कोई इन मिथ्या ग्रन्थों से सत्य ग्रहण करना चाहे तो मिथ्या भी उसके गले लिपट जायगा। इस लिये "असत्य मिश्रं सत्यं दूरतस्त्याज्यमिति" असत्य से युक्त ग्रन्थस्थ सत्य को भी वैसे ही छोड़ देना चाहिये जैसे विषयुक्त अन्न को।" १

यही बात स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में भी लिखी है—२

(प्रश्न) पुराणों में सब बातें झूठी हैं या कोई सच्ची भी है?

(उत्तर) बहुत सी बातें झूठी हैं और कोई घुणाक्षर न्याय से सच्ची भी हैं। जो सच्ची हैं वह वेदादि शास्त्रों की और जो झूठी हैं वे इन पोपों के पुराण रूपी घर की हैं। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के ग्रन्थ प्रामाण्याप्रामाण्य विषय के अन्तर्गत ऋषि के इसी भाव को स्पष्ट करने वाला

१ सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास

२ ,, ११ समुल्लास

संस्कृत लेख इस प्रकार है।[१]

(प्रश्न) तेषु बह्वनृतभाषणेषु किंचित्सत्यमप्यग्राह्यम्भवितु मर्हति विषयुक्तान्नवत् ।

(उत्तर) यथा परीक्षका विषयुक्तममृततुल्य माप्यन्नं परीक्ष्य त्यजन्ति तद्वद प्रमाणा ग्रन्थास्त्याज्या एव । कुतः । तेषां प्रचारेण वेदानां सत्यार्थाप्रवृत्ते स्तद प्रवृत्या ह्यसत्यार्थान्धकारापत्ते रविद्यान्धकारतया यथार्थ ज्ञानानुत्पत्ते श्चेति । अर्थात् अमृत तुल्य अन्न में विष मिला हो तो उसको छोड़ देते हैं, क्यों कि उनसे सत्यग्रहण की आशा करने से सत्यार्थ प्रकाशक वेदादि ग्रन्थों का लोप हो जाता हैं ।

राम मोहनराय का शास्त्र विवेचन सूक्ष्मता की इस सीमा तक नहीं पहुँच सका था और न उन्होंने पुराणों और तंत्रों के अप्रमाणत्व का इस दृष्टि से विचार ही किया था। यद्यपि सती प्रथा के विरुद्ध लिखित शास्त्रार्थ में उन्हें प्रसंग वशात् पुराणों और मनु के अतिरिक्त अन्य स्मृतियों के खण्डन में प्रवृत्त होना पड़ा था, परन्तु वैसे उनकी सम्मति पुराणों और तंत्रों के अधिक प्र तकूल नहीं थी। अपने ईशोपनिषद् भाष्य की भूमिका मे वे लिखते हैं—

"The Puranas and Tantras are of course to be considered as Shastra, for they repeatedly declare God to be one."[2]

अर्थात् पुराणों और तंत्रों की गणना भी शास्त्रों में ही करनी चाहिये क्योंकि उनमें भी एक ईश्वर का ही प्रतिपादन किया गया है। स्वामी दयानन्द की तरह तंत्रों और पुराणों की अवहेलना और उपेक्षा करना तो दूर, राम मोहनराय ने उन्हें "शास्त्र" का पद भी प्रदान कर दिया है। यद्यपि इन ग्रन्थों का प्रमाण स्वीकार करने के कारण उन्हें अपने सिद्धान्तों को पुष्ट करने में सहायता की अपेक्षा बाधा ही

---

१ ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृ० ३५२

2 Preface to the translation of Ishopnishad. P. 63.

अधिक पहुंचे, परन्तु उनके विरुद्ध कोई स्पष्ट निर्णय करने में वे असमर्थ रहे। कहने को तो उन्होंने वेद को स्वतः प्रमाण और अन्य ग्रन्थों को परतः प्रमाण तथा वेद से विरोध रखने वाले ग्रन्थों को अप्रमाण भी स्वीकार किया। मनुस्मृति को अन्य स्मृतियों से अधिक प्रामाणिक मां नाना, परन्तु फिरभी तंत्र और पुराणोंसे वे अपना पीछा नहीं छुड़ासके।

ऋषि दयानन्द को अपने गुरु दण्डी विरजानन्द की कृपा से आर्ष और अनार्ष ग्रन्थों के विवेक का अपूर्व ज्ञान प्राप्त हुआ था। इस कसौटी पर कसने के पश्चात् उन्होंने स्मृति, तंत्र, पुराण आदि शास्त्र नामधारी अनार्ष ग्रन्थों की अवहेलना करने का साहस किया जिन्होंने अपनी अवैदिक विचार धारा के कारण हिन्दू समाज को शताब्दियों से अवनति के गर्त में डाल रक्खा था। राम मोहनराय के पास आर्ष अनार्ष विवेक की यह दिव्य दृष्टि नहीं थी, इस लिये उनका शास्त्र मीमांसा का मार्ग सदा कण्टकाकीर्ण रहा। यही कारण था और जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, वे न तो मूर्ति पूजा का ही सर्वथा तिरस्कार कर सके और न विशुद्ध एकेश्वरवाद को ही प्रतिष्ठित कर सके। जब जब वे प्राचीन वैदिक सिद्धान्तों की पुनः प्रतिष्ठा करने का यत्न करते थे, तब तब तंत्र और पुराणों के प्रामाण्य का भूत उनके समक्ष आकर खड़ा हो जाता था और उसका सामना करने में वे अपने आपको असमर्थ पाते थे। तभी तो सती प्रथा का विरोध करने के लिये उन्हें अनेकानेक नवीन उद्भावनाओं की सृष्टि करनी पड़ी थी।

स्वामी दयानन्द का मार्ग इससे अधिक स्पष्ट और सरल था। संस्कार और सुधार के मार्ग में बाधक, तथा प्राचीन धर्म की पुनः प्रतिष्ठा में अवरोधक के रूप में आने वाले अनार्ष ग्रन्थों के तिमिर जाल को उन्होंने अपने वेद प्रमाण (संहिता प्रमाण) और आर्ष ग्रन्थ प्रमाण के प्रकाश पुञ्ज नक्षत्रों से छिन्न भिन्न कर दिया। यही दोनों आचार्यों की शास्त्र प्रमाण मीमांसा में मौलिक अन्तर है।

———

अध्याय ४

एकेश्वरवाद

राम मोहनराय ने तत्कालीन हिन्दू समाज में प्रचलित बहुदेवोपासना का शास्त्रीय प्रमाणों से और युक्तियों से खण्डन किया और वैदिक एकेश्वरवाद के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया। स्वामी दयानन्द के आविर्भाव से पूर्व ही राम मोहनराय ने इस सिद्धान्त को स्थापित किया था अतः अन्य सुधार कार्यों की भांति यहाँ भी वे अग्रदूत के रूप में ही हमारे समक्ष आते हैं। उस समय शाक्त और वैष्णव सम्प्रदाय बंगाल में प्रबल शक्ति रखते थे। शाक्त मत प्राचीन वाम मार्ग का अवशेष था। चैतन्य के अनुयानी वैष्णव थे, जिनमें राधा कृष्ण की उपासना प्रचलित थी। बंगाल का अधिकांश जन समुदाय इन्हीं दो सम्प्रदायों के अनुययियों में विभक्त था।

यहाँ हमें यह देखना है कि राम मोहनराय के हृदय में एकेश्वरवाद के विचार कैसे उत्पन्न हुये। राम मोहनराय की प्रारम्भिक शिक्षा अरबी, फारसी में हुई थी। उन्होंने सम्पूर्ण कुरान का मूल अरबी में अध्ययन किया था। उन पर मुसलमानों के सूफी सम्प्रदाय का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इस्लाम के सिद्धान्तों में एकेश्वरवाद एक प्रमुख महत्व रखता है, इस लिये इस्लाम धर्म के सम्पर्क में आने वाले राम मोहनराय के लिये भी उससे अपरिचित रहना सम्भव नहीं था। सूफी सम्प्रदाय के सिद्धान्त नवीन वेदान्त से बहुत कुछ मिलते हैं। शिवनाथ शास्त्री ने अपने ब्राह्म समाज के इतिहास में लिखा है -

"He is said to have been specially enchanted with the writings of the Sufi School of Mohamedan philosophers, whose views tallied to a large extent with those of the Vedantic School of the Hindus and who accordingly were regarded as little better than heretics by the

narrow and orthodox School of Mohamedans. Throughout his subsequent life, Ram Mohan Roy never entirely shook off these early influences. In private life, through a long course of years, his habits and tastes were those of a Mohamedan and in private conversation he always delighted to quote freely from his favourite Sufi authors.[1]

अर्थात् राम मोहनराय इस्लामी दार्शनिकों के सूफी सम्प्रदाय के ग्रन्थों से विशेषरूप से प्रभावित थे। इन सूफियों के सिद्धान्त हिन्दुओं के वेदान्त सम्प्रदाय से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं ये सूफी लोग संकुचित विचारों वाले पुराण पंथी मुसलमानों द्वारा नास्तिक ही समझे जाते हैं। अपने आगामी जीवन में राम रोहनराय इन प्रारम्भिक प्रभावों से कभी मुक्त नहीं हो सके। उनके व्यक्तिगत जीवन में भी कई वर्षों तक उनकी आदतें और विचार मुसलमानों के से रहे और वार्तालाप में भी उन्हें अपने प्रिय सूफी लेखकों को स्वतंत्रता पूर्वक उद्धृत करने में प्रसन्नता होती थी।

प्रसिद्ध फ्रैन्च विद्वान् रोमां रोला ने तो यह स्पष्ट रूप से लिख दिया है कि राम मोहनराय का एकेश्वरवाद के प्रति झुकाव इस्लामी प्रभाव के कारण था। उन्होंने स्वलिखित राम कृष्ण परमहंस के जीवन चरित्र में लिखा है—

'Being an orthodox Brahmin by birth, he was nurtured in Islamic culture. He did not discover the works of Hindu Theology until he began to study Sanskrit between the ages of fourteen and sixteen at Benaras. His Hindu biographers maintain that this was his second birth ; but it is quite conceivable that he had no need of Vedanta to imbibe a monotheistic faith. Contact with

---

1 History of Brahmo Samaj Part 1. P. 16-17.

Islam would have implanted in him from in fancy, and the science and practice of Hindu mysticism only reinforced the indelible influence of Sufism whose burning breath had impregnated his being from his earliest years." 1

अर्थात् जन्मना ब्राह्मण होते हुये भी राम मोहनराय की शिक्षा दीक्षा इस्लामी संस्कृति के ढंग पर हुई थी। जब तक उसने १४ और १६ वर्ष की आयु के बीच काशी में संस्कृत पढ़ना प्रारम्भ नहीं किया, तब तक वे हिन्दू धर्म के ग्रन्थों से अपरिचित ही रहे। उनके हिन्दू जीवनी लेखकों का कथन है कि यह उनका दूसरा जन्म था, परन्तु यह अनुमान करना कठिन नहीं है कि एकेश्वरवाद के सिद्धान्त को ग्रहण करने में उन्हें वेदान्त की आवश्यकता नहीं पड़ी। इस्लाम के सम्पर्क ने इस एकेश्वरवादी विचार धारा को बाल्यकाल में ही अंकुरित कर दिया था और हिन्दू साधना के ज्ञान और आचरण ने उसे और दृढ़ कर दिया।

राम मोहनराय के हिन्दी जीवनी लेखक भी इससे सहमत हैं। उनका कथन है, "मूल अरबी में राजा राम मोहनराय ने कुरान पढ़ी थी और इसी कारण वह केवल एक निराकार, अजन्मा, परमात्मा की शक्ति का मानने वाला बना। मुसलमान शास्त्रों के एकेश्वरवाद और प्राचीन आर्य शास्त्रों के ब्रह्म ज्ञान ने मिल कर उनके मत बदलने के कारण पैदा कर दिये थे।" २

अब यह स्पष्ट हो गया कि राम मोहनराय द्वारा प्रवर्तित एकेश्वरवाद के आन्दोलन में इस्लामी प्रभाव कार्य कर रहा था। परन्तु क्या स्वामी दयानन्द भी किसी अन्य विचार धारा से प्रभावित होकर ही एकेश्वरवाद के पक्ष पोषक बने? नहीं, उन्होंने तो प्राचीन शास्त्रों

1 The life of Ramakrishna. P. 100.

२ राजा राम मोहनराय ले० शिवनारायण द्विवेदी पृ० १७

का मंथन किया और गम्भीर विचार के अनन्तर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वेदों में केवल एक ईश्वर की ही उपासना करने का आदेश दिया गया है। यह अवश्य है कि वेदों में ईश्वर के अनेक भिन्न भिन्न नाम आये हैं, परन्तु ये नाम उसकी विभिन्नता के सूचक न होकर उसकी महान और अनन्त शक्तियों के निर्देशक हैं। उसी एक परमात्मा को विद्वान् लोग भिन्न भिन्न नामों से पुकारते हैं। कोई उसे इन्द्र कहता है, कोई अग्नि। वही यम और मातरिश्वा भी कहलाता है। १ उसे ही अग्नि कहते हैं, वही आदित्य, वायु और चन्द्रमा है। वह ब्रह्म ही शुक्र, आप और प्रजापति कहलाता है। २ हिन्दू धर्म में बहुदेवोपासना का काल बहुत नवीन है जब कि सम्प्रदायों की स्थापना के कारण पुराण-वर्णित भिन्न भिन्न देवताओं की साम्प्रदायिक पूजा पद्धतियों का प्रचार होने लगा था।

सत्यार्थप्रकाश के सातवें समुल्लास के प्रारम्भ में ऋषि दयानन्द लिखते हैं—

"प्रश्न—वेद में ईश्वर अनेक हैं, इस बात को तुम मानते हो या नहीं ?" उत्तर—नहीं मानते, क्यों कि चारों वेदों में ऐसा कहीं नहीं लिखा जिस से अनेक ईश्वर सिद्ध हों, किन्तु यह तो लिखा है कि ईश्वर एक है।" ३ अतः सिद्ध हुआ कि वेदोक्त होने से ही स्वामी दयानन्द को एकेश्वरवाद का सिद्धान्त मान्य है। उन किसी प्रकार का विदेशी प्रभाव नहीं पड़ा जैसा कि राम मोहनराय के विषय में हमने देखा है।

---

१ इन्द्रं मित्रं वरुण मग्नि माहुरथो दिव्यस्ससुपर्णो गरूत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु ॥
ऋ० १। १६४। ४६

२ तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदुचन्द्रमा।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ यजु० ३२। १

३ पृष्ट २०७

राम मोहनराय ने अपने वेदान्त दर्शन के अनुवाद, ईश, केन, कठ और मुण्डक उपनिषदों के अनुवादों तथा इन ग्रन्थों की भूमिकाओं में यह स्पष्ट कर दिया है कि ईश्वर एक ही है और वही मनुष्य जाति का एक मात्र उपास्यदेव है। ईशोपनिषद् की अंग्रेजी टीका की भूमिका में वे लिखते हैं—

"The most learned Vyasa shows, in his work of the Vedant, that all the texts of the Veda, with one consent prove but the Divinity of that being, who is out of reach of comprehension and beyond all description ... ... It is evident that the sole regulat or of the universe is but one, who is omnipresent, far surpassing our powers of comprehension, above external sense, and whose worship is the chief duty of mankind and the sole cause of beatitude."[1]

अर्थात् महाविद्वान् व्यास ने अपने वेदान्त दर्शन में बताया है कि सम्पूर्ण वेद एक स्वर से परमात्मा की उस दिव्य सत्ता को प्रमाणित करते हैं जो अनुभूति से परे तथा वर्णनातीत है। यह सिद्ध है कि समस्त ब्रह्माण्ड का नियामक एक ही है जो सर्व व्यापक और हमारी अनुभव करने की शक्ति से परे है, जो बाह्य इन्द्रियों से अतीत है तथा जिसकी उपासना करना मनुष्य का प्रमुख कर्तव्य है, क्यों कि वही मुक्ति का एक मात्र कारण है। यहाँ राम मोहनराय ने भी स्पष्ट रूप से ईश्वर की एक अद्वितीय सत्ता का ही प्रतिपादन किया है और उसी की उपासना करना मनुष्यों का मुख्य धर्म माना है।

ऋषि दयानन्द भी, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, इस सिद्धान्त से सर्वांश में सहमत थे। उन्होंने आर्य समाज के दूसरे नियम में लिखा है—"ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्,

---

१ पृष्ठ ६३

न्यायकारी दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्व व्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।" ब्राह्म समाज के Trust Deed की निम्न पंक्तियों से इसकी तुलना कीजिये, दोनों में आपको एक अद्भुत समानता दिखाई देगी।

"...... for the worship and adoration of the Eternal unsearchable and immutable being who is the author and preserver of the universe"

यह तो हुई राम मोहनराय और दयानन्द के सिद्धान्तों में एकता की बात। परन्तु एक विचित्र बात राम मोहनराय के ग्रन्थों में दिखाई देती है, जिसके कारण उनके एकेश्वरवाद का सिद्धान्त अत्यन्त संकुचित हो जाता है और उसमें तथा पौराणिकों के Panthiesm में कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता। बात यह है कि राम मोहनराय ईश्वर के अतिरिक्त अन्य पुराण वर्णित देवताओं की भी सत्ता स्वीकार करते हैं और अल्पमति वाले लोगों के लिये उनकी उपासना एवं पूजा के विधान को भी अनुचित नहीं मानते। यही स्वामी दयानन्द और राम मोहनराय के एकेश्वरवाद में मौलिक अन्तर है। राम मोहनराय का कथन है कि जो व्यक्ति निराकार परमात्मा को अपने ध्यान का लक्ष्य न बना सकें उनके लिये अन्य देवों की उपासना विहित है। स्वामी दयानन्द इसका सर्वांश में निषेध करते हैं।

यहाँ 'देव' शब्द पर कुछ विचार करना अनुपयुक्त न होगा 'देव' शब्द संस्कृत के 'दिवु' धातु से बना है जिसका अर्थ है—'क्रीड़ा विजिगीषा व्यवहारद्युति स्तुति मोदमद स्वप्न कान्ति गतिषु।"[१]

अर्थात् 'देव' शब्द निम्न अर्थों में प्रयुक्त हो सकता है—क्रीड़ा, विजय की इच्छा, व्यवहार, प्रकाश, स्तुति, आनन्द, मद, स्वप्न और

---

१ धातु पाठ पृ० २८ आर्य साहित्य मण्डल अजमेर

कान्ति । उपर्युक्त, धातु पाठ में 'द्युति' भी देव के अर्थों में आया है। इसका अर्थ है प्रकाश । अतः जो भी प्रकाश युक्त पदार्थ या शक्तियें हैं वे सभी 'देव' शब्द से अभिहित हो सकती हैं। परमात्मा ज्ञान स्वरूप होने से और दिव्य प्रकाश युक्त होने से देव है ।१ चन्द्र, सूर्य, आदि ग्रह और नक्षत्र भी यद्यपि जड़ हैं, परन्तु फिर भी उन्हें देव कहा जा सकता है। निरुक्तकार यास्क ने 'देव' शब्द की निरुक्ति अपने ग्रन्थ में इस प्रकार की है—"देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानोभवतीति वा ।"२ अर्थात् दान, प्रकाश, द्योतन अथवा द्युस्थानीय पदार्थों के लिये 'देव' शब्द का प्रयोग होता है । निरुक्त के इस नियम के अनुसार दान देने वाले देव कहलायेंगे, सत्यापदेश करने वाले गुरु, आचार्य तथा जन्म देने वाले माता, पिता भी देव हैं। सूर्य, चन्द्र आदि प्रकाश युक्त तथा पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश आदि भूत पदार्थ भी देव हैं । यजुर्वेद के एक मंत्र में ऐसे अनेक भौतिक देवताओं का वर्णन आया है—"अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवता ऽऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ।"३

स्वामी दयानन्द ने इसी देवता वाद को स्वीकार करते हुये सत्यार्थप्रकाश में लिखा है—"देवता दिव्य गुणों से युक्त होने के कारण कहलाते हैं, जैसी कि पृथ्वी, परन्तु इसको कहीं ईश्वर या उपासनीय नहीं माना है ।"४ एकादश समुल्लास में वास्तविक पञ्चायतन पूजा का वर्णन करते हुये माता, पिता, आचार्य, अतिथि और पति के लिये पत्नी तथा पत्नी के लिये पति, ये पांच मूर्तिमान देव माने हैं । परन्तु यथार्थ

---

१ आदित्य वर्णं तमसः परस्तात् यजु० ३१।१८

२ निरुक्त ७।१५

३ यजु० १४।२०

४ सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास

में पूज्नीय और उपासनीय देव ईश्वर ही है, क्यों कि यह समस्त जड़ चेतन देवों का स्वामी महादेव है। ईश्वर के अतिरिक्त अन्य सूर्य आदि जड़ और माता पिता आदि चेतन देवों का यथा योग्य सत्कार एवं उपयोग लेना ही वास्तविक देव पूजा है।

अब हम पुनः अपने मुख्य विषय पर आते हैं। राम मोहनराय ने एकेश्वरवाद का संकीर्ण अर्थ में प्रयोग किया। "देव" शब्द के विभिन्न अर्थों से अनभिज्ञ होने के कारण उनकी यह धारणा हो गई थी कि ईश्वर के अतिरिक्त और किसी की 'देव' संज्ञा हो ही नहीं सकती। इस लिये स्वामी जी ने ब्राह्म समाज की समीक्षा के प्रकरण में लिखा है—"ईश्वर के बिना दिव्य गुण वाले पदार्थों और विद्वानों को भी देव न मानना ठीक नहीं, क्यों कि परमेश्वर महादेव और जो देव न होता तो सब देवों का स्वामी होने से महादेव क्यों कहाता।"[१]

यह सचमुच आश्चर्य जनक है कि ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य शक्ति, सत्ता या पदार्थ को देव न मानते हुये भी राम मोहनराय ने हिन्दू धर्म में अनेक देवताओं की स्थिति और अल्प मति वालों के लिये उनकी आराधना का विधान स्वीकार किया है। Abridgment of the vedant नामक अपनी पुस्तक में राम मोहनराय लिखते हैं—

"The following texts of the Veda, viz, "Krishna (the god of preservation) is greater than all the celestial gods, to whom the mind should be applied. We all worship Mahadeva (the god of destruction). ' We adore the Sun." "I worship the most revered Varun (the god of the sea.)" "Dost thou worship me," says the Air, "who am the eternal and universal life." 'Intellectual power is God, which should be adoreded;' and Udgitha (or a certain part of the Veda) should be worshipped."

१ सत्यार्थप्रकाश एकादश समुल्लास

These, as well as several other texts of the same nature are not real commands to worship the persons and things above mentioned, but only direct those who are unfortunately incapable of adoring the invisible, supreme being, to apply their minds to any visible thing rather than allow them to remain idle." [1]

अर्थात् वेदों के निम्न वचन—"कृष्ण उन सब देवताओं से बड़े हैं जिनका ध्यान करना चाहिये। हम सब महादेव की पूजा करते हैं। हम सूर्य की उपासना करते हैं। मैं सर्व पूज्य वरुण देवता का ध्यान करता हूँ। वायु कहता है—तुम्हें मेरी पूजा करनी चाहिये क्यों कि मैं विश्व जीवन का शाश्वत आधार हूँ। मानसिक शक्ति ईश्वर है, उसकी पूजा करनी चाहिये। उद्गीथ की उपासना करो।" ये और इसी प्रकार के अन्य वचन उपर्युक्त व्यक्तियों और पदार्थों को पूजने की वास्तविक आज्ञा प्रदान नहीं करते। यह विधान तो केवल उन लोगों के लिये है जो दुर्भाग्यवश निराकार परमात्मा का ध्यान करने में असमर्थ हैं, उनको यह सुविधा प्रदान की गई है कि वे अकर्मण्य होकर निठल्ले बैठने की अपेक्षा अपने मनों को इन दृश्यमान पदार्थों में लगायें।

राम मोहनराय के इस कथन को निष्कर्ष रूप में हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं।

(१) वेदों में कृष्ण, महादेव, वरुण, वायु, उद्गीथ आदि देवताओं की उपासना का वर्णन है।

(२) जिन वेद मंत्रों में इन देवताओं की उपासना का उल्लेख है, उनका वास्तविक अभिप्राय यह नहीं है।

(३) इन दृश्यमान वस्तुओं और व्यक्तियोंकी पूजा करनेका आदेश केवल उन व्यक्तियों को दिया गया है, जो निराकार ईश्वर का ध्यान करने मेंअसमर्थ हैं।

---

1 Abridgment of the Vedant. P 13

अब क्रमशः इन स्थापनाओं की आलोचना की जायगी। प्रथम तो राम मोहनराय ने यह नहीं बतलाया कि वेद के किन किन मंत्रों से कृष्ण, महादेव, वायु आदि देवताओं की पूजा सिद्ध होती है। वस्तुतः बात तो यह है कि राम मोहनराय ने वेदों के संहिता भाग के तो शायद दर्शन भी नहीं किये थे। वे ब्राह्मण और उपनिषदों को ही वेद मानते थे। इस लिये उन्हें जब छान्दोग्य उपनिषद् में "ओमित्येदक्षरमुद्गीथमुपासीत"१ आदि वचन मिले, तो उन्होंने यह सोच लिया कि यही वेद वाक्य हैं और इन्हीं से विभिन्न देवताओं की उपासना सिद्ध होती है। परन्तु उपनिषद् वाक्यों का अभिप्राय लोगों को अनेक देवों की उपासना में लगाने का नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद् का उपयुक्त वचन तो और भी निर्दोष है क्यों कि यहाँ 'उद्गीथ' ओ३म् का वाचक है और ओ३म् परमात्मा का मुख्य नाम है। अतः छान्दोग्य उपनिषद् के इस वचन का अभिप्राय तो लोगों को प्रणव की उपासना की ओर प्रेरित करने का है।

वेदान्त दर्शन में उपनिषदों के उन विभिन्न प्रतीत होने वाले उपासना सम्बन्धी वाक्यों का समन्वय किया गया है, जिनमें ईश्वर के लिये ऐसे नामों का प्रयोग हुआ है जिनका लोक में अन्य पदार्थों के लिये भी प्रयोग होता है। आकाशस्तल्लिङ्गात्२ अतएव प्राणः३, ज्योतिश्चरणाभिधानात्४ अत्ता चराचरग्रहणात्५ आदि अनेक सूत्रों में आकाश, प्राण, ज्योति, अत्ता आदि शब्दों को ईश्वर वाचक सिद्ध किया गया है। अतः उपनिषदों के वचनों का वास्तविक अभिप्राय न समझ कर उन्हें अल्प बुद्धि वाले लोगों के लिये भिन्न भिन्न देवताओं की

१ छान्दोग्य उपनिषद् १।१।१

२ वेदान्त दर्शन १।१।२२

३ वही १।१।२३

४ वही १।१।२४

५ वही १।२।९

उपासना करने की आज्ञा देने वाले वाक्य समझना उचित नहीं। इससे राम मोहनराय की विशुद्ध एकेश्वरवाद के प्रति निष्ठा को आघात पहुँचता है। यह बहु देवों के अस्तित्व की धारणा उस वेदान्त दर्शन के भी प्रतिकूल है जिसका आधार लेकर वे एकेश्वरवाद की स्थापना में कृत संकल्प हुये थे।

लगभग ऐसे ही भाव राम मोहनराय ने एक अन्य स्थान पर भी प्रकट किये हैं—

"The doctrine of a plurality of gods and goddesses is laid down in the preceding chapters (of the Vedas) is not only controverted but reasons assigned for its introduction; for instance, that the worship of the sun and fire, together with the whole allegorical system, were only inculcated for the sake of those whose limited understanding rendered them incapable of comprehending and adoring the invisible supreme being, so that such persons might not remain in a brutified state, destitute of all religious principles."[1]

अर्थात् देवों और देवियों के बहुत्व के सिद्धान्त का वर्णन वेद के प्रारम्भिक अध्यायों में मिलता है। इस सिद्धान्त का खण्डन तो हो ही चुका है, परन्तु इसके प्रचलित होने के कारण भी हैं। उदाहरण के लिये सूर्य या अग्नि की पूजा का विधान एक आलंकारिक पूजा विधान ही है, परन्तु यह भी जानना चाहिये कि इसका प्रारम्भ केवल उन संकुचित समझ वाले लोगों के लिये किया गया था, जिनके लिये इन्द्रिय-अगोचर, निराकार परमात्मा का ध्यान करना कठिन था और यह भी भय था कि कहीं ऐसे व्यक्ति जंगली अवस्था में ही सारे धार्मिक भावों से शून्य न रह जांय।

---

[1] Introduction to the translation of Kena Upnishad P. 36.

इस कथन के द्वारा भी राम मोहनराय यह प्रतिपादित करना चाहते हैं कि वेद के प्रारम्भिक भागों में (उनका तात्पर्य संहिताभाग से है) बहुदेवोपासना का विधान है। फिर वे उस बहुदेवोपासना की उपयोगिता संकुचित बुद्धि वालों के लिये मानते हैं। परन्तु जब यही सिद्ध नहीं होता कि वेद के संहिता भाग में बहुदेवोपासना विद्यमान है, तब उसकी उपयोगिता और अनुपयोगिता का प्रश्न ही नहीं उठता। जैसा कि हम पूर्व ही दिखला चुके हैं वेदों में तो केवल एकेश्वरवाद का ही प्रतिपादन किया गयाहै। वेद में जहाँ अग्नि, सूर्य आदि की उपासना वा उल्लेख है वहाँ उसका अभिप्राय ईश्वरोपासना से ही लेना उचित है, क्यों कि "अग्नि कस्मात् अग्रणीर्भवति।"[१] आदि निरुक्त के प्रमाणों से अग्नि और सूर्य भी ईश्वर के ही नाम सिद्ध होते हैं। वेदों में तो ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति की उपासना को घोर पाप और मनुष्य के लिये महान् हानिकारक बताया है।

बहुदेवताओं के अस्तित्व और उनकी उपासना के विधान का औचित्य, शब्दों के उलट फेर के साथ ईशोपनिषद् के अनुवाद की भूमिका में भी प्रमाणित किया गया है—

"Shastras expressly declare the divinity of many gods and goddesses, and the modes of their worship; but they reconcile those contradictory assertions by affirming frequently, that the directions to worship any figured beings are only applicable to those who are incapable of elevating their minds to the idea of an invisible supreme being, in order that such persons, by fixing their attention on those invented figures, may be able to restrain themselves from vicious temptations."[2]

---

१ निरुक्त ७।१४

2 Preface to the translation of Ishopnishad. P. 63-64

यहाँ राम मोहनराय ने बिना प्रमाण दिये ही यह मान लिया है कि शास्त्रों में अनेक देवी देवताओं की सत्ता और उनकी विभिन्न उपासना प्रणालियों का उल्लेख है। यहाँ उन्होंने पुनः इस बहुदेवोपासना प्रधान मूर्ति पूजा को अल्प बुद्धि वालों के लिये उपयोगी बतलाया है और इस बार प्रमाण के लिये स्मार्त रघुनन्दन, विष्णु पुराण, भागवत, कुलार्णव तंत्र और महानिर्वाण तंत्र आदि के उद्धरण भी दिये हैं, जिनका अभिप्राय यही है कि देवी देवता, मूर्ति पूजा, तीर्थ आदि उन्हीं के लिये हैं जिनका आध्यात्मिक विकास नहीं हुआ है। ये पूजा, उपासनायें परमसाध्य परमात्मा तक पहुँचने के साधन मात्र हैं। वहाँ पहुँच जाने पर इनकी कोई आवश्यकता नहीं रहती आदि।

ऋषि दयानन्द ने तो बहुदेवोपासना को किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं किया। यदि अल्प और संकीर्ण बुद्धि वाले लोगों का बहाना कर बहुदेवोपासना का औचित्य सिद्ध किया जाय तो फिर उसके खण्डन की आवश्यकता ही क्या है ? स्वयं बहुदेवोपासना के समर्थक भी तो यही मानते हैं कि तत्व ज्ञानियों के लिये इसका कोई महत्व नहीं है। फिर राम मोहनराय और उनकी सम्मति में कोई अन्तर ही नहीं रह जाता। बहुदेवोपासना, मूर्ति पूजा, तीर्थ आदि को चरम लक्ष्य तो कोई नहीं मानता। अतः हमें यह कहने के लिये बाध्य होना पड़ता है कि वह नर केसरी दयानन्द ही था जिसने बिना किसी लाग लपेट किये और बिना क्लिष्ट कल्पनाओं का सहारा लिये बहुदेवोपासना, मूर्ति पूजा आदि बुराइयों का खण्डन किया। यही कारण है कि दयानन्द के सिद्धान्तों में एक रूपता और सुसंगति दिखाई देती है।

अपने विरोधियों को उत्तर देने के प्रसंग में भी राम मोहनराय ने इसी तर्क का सहारा लिया था कि अनेक देवी देवताओं की पूजा और उपासना क्षुद्र बुद्धि के लोगों के लिये है। ईसाई पादरी के आक्षेपों का उत्तर देते हुये राम मोहनराय कहते हैं—

"There is, moreover, this is in the Puranas, that lest persons of feeble intellect unable to comprehend God as not subject to the senses and without form, should either pass their life without any religious duties what so ever, or should engage in evil work—to prevent this they have represented God in the form of a man and other animals and as possessed of all those desires with which we are conversent whereby they may have some regard to the divine being."[1]

अर्थात् पुराणों में ईश्वर को मनुष्य और पशु की आकृति का बताया गया है। इसका कारण यह है कि दुर्बल मस्तिष्क वाले व्यक्ति ईश्वर के निराकार स्वरूप का ध्यान नहीं कर सकते। ऐसा न हो कि वे अपने जीवन को बिना किसी धार्मिक प्रवृत्ति के व्यतीत करदें और बुरे कामों में लग जांय, इस लिये उनको इस बुराई से बचने के लिये ही ईश्वर को आकृति वाला और उन सब इच्छाओं तथा वासनाओं से पूर्ण बताया है जिन से हम परिचित हैं। यह सब कल्पना मूढ़ पुरुषों के हृदयों में परमात्मा के प्रति कुछ न कुछ आदर का भाव बनाये रखने के लिये ही की गई है।

यह तर्क और भी गोलमाल है। राम मोहनराय बहुदेवोपासना अवतार और ईश्वर के साकार रूप आदि का प्रयोजन उन लोगों के लिये मानते हैं जो ईश्वर के सूक्ष्म स्वरूप का विचार करने में असमर्थ हैं। कारण यह बतलाते हैं कि यदि पुराणों में स्थूल देह धारी ईश्वर का उल्लेख नहीं होता तो साधारण बुद्धि वाले ईश्वर के सूक्ष्म स्वरूप को हृदयंगम न कर सकने के कारण नास्तिक बन जाते। बड़ी विचित्र परिस्थिति है। राम मोहनराय के कथनानुसार यदि परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान न रखने वाला और जड़ वस्तुओं, पशुओं तथा मनुष्यों

[1] The Brahmunical Magazine No. 2. P. 161.

को भी ईश्वर समझ लेने वाले वाले भी आस्तिक समझ लिये जांय तो फिर आस्तिक और नास्तिक की पृथक् पृथक् भेद मूलक परिभाषायें करने की आवश्यकता ही क्या है ? फिर वेदों और उपनिषदों में प्रतिपादित सच्चिदानन्द घन परमब्रह्म का ज्ञाता ब्रह्म विद् और जड़ मूर्ति की पूजा करने वाले, अवतारों में विश्वास रखने वाले तथा अनेक देवी देवताओं की शरण में भटकने वाले व्यक्ति में कोई अन्तर ही नहीं रहेगा। इस प्रकार तो संसार का प्रत्येक व्यक्ति राम मोहनराय द्वारा आविष्कृत ईश्वर विश्वासी और ईश्वर भक्त पुरुष की परिभाषा में आ सकेगा।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि जब तक एक ईश्वर की अद्वितीय सत्ता को स्वीकार नहीं किया जाता तब तक पुराण प्रतिपादित बहुदेवोपासना की कुहर राशि से आच्छादित ईश्वर का वास्तविक स्वरूप प्रकट नहीं हो सकता। महर्षि दयानन्द ने यही कार्य किया। पुराणोंके कुहरे को ध्वंस करने के लिये उनके पास तेजस्वी वेद ज्ञान का सूर्य था। जहाँ राम मोहनराय का सिद्धान्त पौराणिक विचार धारा से मिश्रित है, वहाँ दयानन्द का एकेश्वरवाद विशुद्ध है।

यह सब कुछ होते हुये भी राम मोहनराय की ईमानदारी और सत्यता के प्रति उनकी निष्ठा प्रशंसनीय है उनके समय और वातावरण को देखते हुये उनके प्रयत्नों की प्रशंसा करनी पड़ती है। एकेश्वरवाद के सिद्धान्त में उनकी सच्ची निष्ठा थी और वे यह मानते थे कि यह उनका कोई अभिनव आविष्कार नहीं है। एकेश्वरवाद के बीज वैदिक साहित्य में प्रारम्भ से ही विद्यमान थे, केवल उसका यथार्थ स्वरूप जनता के समक्ष प्रस्तुत करना था। यही कार्य राममोहन और दयानन्द जैसे सुधारकों द्वारा हुआ।

A Defence of Hindu Theism

नामक पुस्तक में राम मोहनराय एकेश्वरवाद के सिद्धान्त की प्राचीनता की ओर संकेत करते हुये लिखते हैं—

"In none of my writings nor in any verbal discussion, have I ever pretended to reform or to discover the doctrines of the unity of God, nor have I ever assumed the title of reformer or discoverer; so far from such assumptions, I have urged in every work that I have hitherto published, that the doctrines of the unity of God are real Hinduism, as that religion was practised by our ancestors."[1]

अर्थात् मैंने अपने किसी भी लेख में अथवा मौखिक वाद विवाद में कभी यह दावा नहीं किया कि मैं ईश्वर की अद्वितीय सत्ता का कोई नया सिद्धान्त आविष्कृत कर रहा हूं और न मैंने अपने आपको कभी सुधारक या नवीन धर्म प्रवर्तक समझा है। इसके विपरीत मैंने अपने द्वारा प्रकाशित प्रत्येक लेख में यही सिद्ध किया है कि ईश्वर के एक्य का सिद्धान्त ही वास्तविक हिन्दू धर्म है, जिसका आचरण हमारे पूर्वज करते थे।

स्वामी दयानन्द ने भी यह कभी नहीं कहा कि वे किसी नवीन सिद्धान्त या मत का प्रचार कर रहे हैं। विशुद्ध एकेश्वरवाद का जन्म वेद मंत्रों में हुआ, उपनिषदों और वेदान्त सूत्रों मे इसका विशद रूप से अनुभूति प्रधान और तार्किक विवेचन हुआ, कालान्तर में जब यही सिद्धान्त विकृत होकर बहुदेवोपासना के रूप में परिणत हो गया तो उसका पुनः संस्कार और प्रचार करने के लिये ही राम मोहनराय और दयानन्द प्रवृत्त हुये थे। उन्होंने नाना कल्पित देवी देवताओं के उपासना रूपी पाखण्ड जाल को नष्ट किया। परन्तु जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है राम मोहनराय का सिद्धान्त कुछ अंशों में त्रुटि पूर्ण अवश्य था। उसमें येन केन प्रकारेण अन्य देवताओं की सत्ता और उनकी पूजा के औचित्य को स्वीकार किया ही गया था। इसका कारण

---

[1] A Defence of Hindu Theism. P. 90.

था पौराणिक और तांत्रिक साहित्य को प्रमाण कोटि में गिनना, जिससे राम मोहनराय मुक्त नहीं हो सके थे।

ऋषि दयानन्द ने देवतावाद का यथार्थ निरूपण किया और यह बताया कि विभिन्न जड़ और चेतन देवताओं की पूजा के प्रकार भिन्न हैं, परन्तु मनुष्य के लिये सर्वोपरि पूजनीय और उपास्य तो एक मात्र परमात्म देव ही हैं, जिन्हें शास्त्रों में देवाधिदेव महादेव कहा गया है। मृत्यु की सरिता को पार करने लिये परमात्मा का ज्ञान और उसकी उपासना ही एक मात्र साधन है— नान्यः पन्थाऽयनाय:। ऋषि दयानन्द के सिद्धान्त का यही गौरव और महत्व है।

अध्याय ५

मूर्तिपूजा

यदि पौर्वापर्य की दृष्टि से देखा जाय तो स्वामी दयानन्द की अपेक्षा राम मोहनराय ने मूर्तिपूजा का विरोध कई दशाब्दियों पूर्व ही किया था। दोनों आचार्यों के मूर्तिपूजा विषयक विचारों की तुलना करने से पूर्व हमें इस बात पर विचार करना चाहिये कि किन कारणों से स्वामी दयानन्द और राम मोहनराय के हृदय में मूर्तिपूजा के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हुई। वे कौन सी परिस्थितियाँ थीं, जिन्होंने राम मोहनराय और दयानन्द को शताब्दियों से प्रचलित मूर्तिपूजा के प्रति अविश्वासी बना दिया। यह सर्व सम्मत बात है कि बिना कारण के कार्य नहीं होता। मूर्तिपूजा के महान आडम्बर का आजीवन विरोध करने वाले उपर्युक्त सुधारकों के जीवन में कोई न कोई घटना अथवा परिस्थिति अवश्य आई होगी, जिसके कारण वे मूर्तिपूजा के विधान से असंतुष्ट हो गये और जीवन भर उसका खण्डन करते रहे।

राम मोहनराय एक वैष्णव कुल में उत्पन्न हुये थे। उनके घर में राधा कृष्ण की उपासना होती थी। बाल्यकाल में राममोहनरायकी इन पर बड़ी भक्ति थी। कृष्ण के प्रति अटल श्रद्धा होने के कारण वे अपने घर में 'मानभंग' का खेल कभी नहीं होने देते थे। अपने आराध्य कृष्ण का रोना, विलाप करना और राधा के पावों में अपना सिर रखना उनसे देखा नहीं जाता था।[१] सचमुच यह विलक्षण बात है कि जो व्यक्ति अपने जीवनकाल में मूर्तिपूजा का कट्टर विरोधी रहा वह स्वयं बाल्यावस्था में एक श्रद्धालु मूर्तिपूजक था।

जैसा कि हम गत अध्याय में देख चुके हैं राम मोहनराय की शिक्षा इस्लामी ढंग पर हुई थी उन पर इस्लाम का, जो एक कट्टर मूर्ति विरोधी सम्प्रदाय है, बड़ा भारी प्रभाव था। गत अध्याय में शिवनाथ शास्त्री और रौमां रौला के प्रमाणों से यह भी दिखाया जा चुका है कि वे इस्लाम की सूफी विचार धारा से बड़े प्रभावित हुये थे यही इस्लामी वातावरण था, जिसने राम मोहनराय के हृदय में मूर्ति-पूजा के प्रति श्रद्धा के क्षीण तंतुओं को छिन्न-भिन्न कर दिया। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस एकेश्वरवाद और मूर्तिरहित निराकार ईश्वरोपासना का प्रचार राम मोहनराय ने अपने भावी जीवन में किया, उसका मूल प्रेरणा स्रोत इस्लामी विचार धारा थी। हाँ, यह अवश्य है कि उन्होंने इसकी पुष्टि उपनिषदों और वेदान्त की विचार धारा के द्वारा की। इस लिये हमें पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय का यह मत अत्यन्त समीचीन जान पड़ता है कि "राम मोहनराय से पूर्व जिस किसी ने इस्लाम धर्म के प्रभाव में आकर मूर्ति पूजा का विरोध किया, उसका कभी यह पक्ष नहीं रहा कि मूर्ति पूजा हिन्दू धर्म के मौलिक सिद्धान्तों के विरुद्ध है।"[२] राम मोहनराय ने सर्व प्रथम मूर्ति पूजा को हिन्दू धर्म के मौलिक-

---

१ राम मोहनराय ले० शिवनारायण द्विवेदी पृ० १५

२ राम मोहनराय केशवचन्द्र सेन दयानन्द पृ० १२

सिद्धान्त के विरुद्ध बताया।

अब हम स्वामी दयानन्द की परिस्थिति पर विचार करते हैं। उनकी स्थिति इससे भिन्न थी। वे भी एक कट्टर शैव ब्राह्मण के पुत्र थे, परन्तु उनकी शिक्षा प्राचीन संस्कृत की परिपाटी पर हुई थी। वहाँ इस्लामी संस्कारों के प्रवेश का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। दयानन्द का बाल्यकाल कट्टर पौराणिक वातावरण में बीता। एक दिन शिव रात्रि की पूजा के समय बालक मूलशंकर ने शिवलिंग पर एक चूहे को स्वच्छन्द विचरण करते तथा नैवेद्य को खाते देखा। इसे देख कर उसके संस्कारी मन में जिस सहज विचार का स्फुरण हुआ, वह भारत की भावी दशा को बदलने में एक क्रान्तिकारी विस्फोट सिद्ध हुआ। से आप पूर्व ज म का संस्कार कहें या सर सैयद अहमदखां के शब्दों में इलहाम—(Revelation) जो कुछ भी हो, यह मानना पड़ेगा कि यह एक युगान्तर कारी घटना थी, जिसने भारत के धार्मिक क्षेत्र में एक अभूतपूर्व आन्दोलन को जन्म दिया। स्वामी दयानन्द का मूर्ति पूजा से श्रद्धा हटने का कारण सर्वथा स्वभाविक और विचारोत्तेजक था।

जे० एन० फर्कुहर नामक एक अंग्रेज ईसाई लेखक ने अपनी Modern Religious movements in India नामक पुस्तक में इस घटना पर अपने विचार प्रकट करते हुये इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि एक चौदह वर्ष के हिन्दू बालक के लिये यह कैसे सम्भव हो सका कि वह मूर्ति पूजा के प्रति एक दम श्रद्धा खो बैठा, जब कि उसने इससे पूर्व मूर्ति पूजा के विरुद्ध कोई बात तक नहीं सुनी थी।

फर्कुहर साहब के समीप जब यह समस्या अपने तीव्रतम रूप में उपस्थित हुई तो उन्होंने इसका हल करने के लिये राजकोट निवासी किसी यूरोपियन महिला को एक पत्र लिखा, जिसमें इस बात की जिज्ञासा की गई थी कि क्या दयानन्द की जन्मभूमि टंकारा ग्राम के

आस पास कभी स्थानक वासी जैन सम्प्रदाय का वातावरण रहा था? इस प्रश्न के पूछने से फर्कुहर साहब का यह अभिप्राय था कि यदि टंकारा के आस पास स्थानक वासी जैनों का वातावरण होना सिद्ध हो जाय तो वे दयानन्द के मूर्ति पूजा के प्रति अविश्वासी होने का यह कारण बता सकेंगे कि बालक मूलशंकर पर इस जैन सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा था और इस बात का श्रेय भी जैनमत के उक्त सम्प्रदाय को ही है, जिसके कारण दयानन्द मूर्ति पूजा विरोध रूपी एक महान् सुधार कार्य अपने हाथ में ले सके।

फर्कुहर साहब की मनोनुकूल स्वकल्पित धारणा के अनुसार ही उन्हें मिसेज स्टीवेन्सन नामक उक्त महिला का उत्तर मिल गया जिसमें लिखा था कि वर्तमान मौरवी नरेश के पिता की किसी स्थानक वासी जैन साधु में बड़ी श्रद्धा थी। उनका प्रधान मंत्री भी स्थानक वासी जैन था। इस लिये यह सम्प्रदाय मौरवी रियासत में बड़ा प्रबल था। इस सम्प्रदाय के साधु और साध्वियाँ मौरवी से राजकोट जाते समय टंकारा गांव में होकर गुजरते थे, शायद मूलशंकर इन्हीं साधुओं से प्रभावित हुये हों।

फर्कुहर को अब और क्या चाहिये था? उनके मन की इच्छा पूरी हो गई। दयानन्द पर स्थानक वासी जैनों का असर पड़ा था यह सिद्ध हो गया। उन्होंने इससे चट यह निष्कर्ष निकाल लिया कि इस जैन वातावरण ने ही मूलशंकर को मूर्ति पूजा का विरोधी बना दिया।[1] हम नहीं कह सकते कि फर्कुहर के कथन में कितनी सत्यता है और कितनी कल्पना। उन्होंने मिसेज स्टीवेन्सन से पत्र व्यवहार करने से पूर्व ही यह धारणा बना ली थी कि टंकारा में या उसके आस पास स्थानक वासी प्रभाव अवश्य होना चाहिये, अन्यथा मूलशंकर पर अन्य मत का प्रभाव कैसे सिद्ध होगा? इस पूर्व निर्धारित धारणा के लिये ही प्रमाण

---

[1] Modern Religious Movements in India.

ढूंढ़ने के लिये उन्होंने मिसेज स्टीवेन्सन को पत्र लिखा। कौन कह सकता है कि पत्र व्यवहार की सारी घटना ही फर्कुहर की मनगढ़ंत न हो। जो कुछ भी हो, इस पत्र का उत्तर भी उनकी इच्छा के अनुकूल ही मिला और वे ढ़िंढ़ोरा पीटने लगे कि दयानन्द के मूर्ति पूजा विरोध न कोई मौलिकता नहीं थी।

फर्कुहर का यह कथन सर्वथा अप्रामाणिक है। ऋषि दयानन्द के जीवन का अनुसंधान करने में अपने जीवन को लगा देने वाले पं० लेखराम तथा देवेन्द्रनाथ मुखर्जी आदि को टंकारा में इस स्थानक वासी वातावरण के लये कोई सूत्र या संकेत नहीं मिला, यह आश्चर्य की बात है। अतः फर्कुहर की बात में हमें कोई सत्यता नहीं दिखाई देती। दयानन्द संस्कार शील व्यक्ति थे। जो व्यक्ति मूर्ति पूजा के लिये जन्म जात अश्रद्धा लेकर उत्पन्न हुआ हो उसके लिये यह सर्वथा सम्भव है कि शिव लिंग पर चूहे को क्रीड़ा करता हुआ देख कर उसके पूर्व जन्म के संस्कार उद्‌बुद्ध हो जांय और वह मूर्ति पूजा से घृणा करने लग जाय।

अब हम राम मोहनराय और दयानन्द के मूर्ति पूजा विषयक विचारों की तुलना प्रारम्भ करते हैं। राम मोहनराय के विचार से मूर्ति पूजा का मूल कारण पुजारियों का स्वार्थ है, यह ब्राह्मणों के जीविकोपार्जन का साधन मात्र है। ईशोपनिषद् के अनुवाद की भूमिका में वे लिखते हैं—

"Many learned Brahmins are perfectly aware of the absurdity of idolatry, and are well informed of the nature of the purer mode of worship. But as in the rites, ceremonies and festivals of idolatry, they find the source of of their comforts and fortune, they not only never fail to protect idol worship from all attacks, but even advance and encourage it to the utmost of their power, by keeping the knowledge of their scriptures concealed from the rest

of the people. Their follow rs, too, confiding in these leaders feel gratification in the idea of the Divine Nature residing in a being resembling themselves in birth, shape and propensities and are naturally deli hted with a mode of worship agreeable to the senses, though d structive of moral principles and the fruitful parent of prejudice and superstition." [1]

अर्थात् बहुत से विद्वान् ब्राह्मण मूर्ति पूजा की निस्सारता तथा ब्रह्मोपासना की अधिक संगत और शुद्ध विधि से भली भांति परिचित है, परन्तु मूर्ति पूजा सम्बन्धी क्रियायें और उत्सव उनके लिये प्रत्येक सुविधा और द्रव्योपार्जन के साधन प्रस्तुत करते है। अतः ऐसे लोग न केवल मूर्ति पूजा पर किये गये समस्त आक्षेपों का समाधान करने के लिये सदा तत्पर रहते है अपितु अपनी सामर्थ्यानुसार उसके प्रचार और प्रोत्साहन में अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। इनके अनुगामी भी इन नेताओं में अंध श्रद्धा रखते हैं। वे इस विचार में ही परम संतोष का अनुभव करते है कि उन जैसे ही प्राणी में, जो जन्म, आकृति, और गुणों में उनके ही तुल्य है, दैवीशक्ति का निवास है और स्वभावतः उस पूजा विधि में ही संतुष्ट रहते हैं जो केवल उनकी एन्द्रिय सुख की उपलब्धि में सहायक है। उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं कि उक्त विधि नैतिक सिद्धान्तों के लिये घातक और अनेक प्रकार की रूढ़ियों और अंध विश्वास की जननी है।

मूर्ति पूजा के अनेक समर्थक अकसर यह युक्ति दिया करते हैं कि मूर्ति पूजक लोग मूर्ति पूजा के द्वारा उस परमात्मा के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धा भावना को प्रकट करता है, जिसके गुणों को मूर्ति के द्वारा आलंकारिक रूप से प्रकट किया गया है। वे कहते हैं कि मूर्ति पूजा तो एक प्रतीक है, जो ईश्वर के अनन्त गुणों को प्रकट करता है। राम

[1] Ppreface to the translation of Isopnishad. P. 66.

मोहनराय इस तर्क से सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि इस प्रतीक भावना को समझने वाले कितने लोग हैं? शायद अंगुलियों पर गिने जायें उतने भी नहीं। फिर इस दर्पोक्ति में क्या सार है कि मूर्ति पूजक लोग ईश्वर की पूजा करते हैं।

"Hindus of the present age, with a very few exceptions, have not the least idea that it is to the attributes of the supreme being, as figuratively represented by shapes corresponding to the nature of those attributes they offer adoration and worship under the denomination of gods and goddesses. On the contrary, the slightest investigation will clearly satisfy every enquirer that it makes a material part of their system to hold as articles of faith all those particular circumstances, which are essential to belief in idependent existence of the objects of their idolatry as dieties clothed with divine power." 1

अर्थात् वर्तमान युग के हिन्दुओं को, कुछ अपवादों को छोड़ कर, यह रत्ती भर भी ध्यान नहीं है कि वे उस परमात्मा के गुणों के प्रति अपनी श्रद्धा भावना प्रकट कर रहे हैं जिन्हें मूर्तियों की विभिन्न रूपाकृतियों के द्वारा आलंकारिक ढंग से प्रकट किया गया है और जो विभिन्न देवी देवताओं के रूप में हमारे समक्ष आते हैं। इसके विपरीत थोड़ा-सा अनुसंधान इस बात को स्पष्ट कर देगा कि मूर्ति पूजा के विधान में उन विशेष परिस्थितियों के प्रति विश्वास और श्रद्धा रखना आवश्यक है जिनमें मूर्तियों के देवता रहते हैं। अपने इस कथन को सिद्ध करने के लिये राम मोहनराय और भी स्पष्ट रूप से लिखते हैं —

"Locality of habitation and a mode of existence analogous to their own views of earthly things, are uniformly ascribed to each particular god." 2

1 Ibid. Page 67
2 Ibid. Page 67

मूर्ति पूजकों के सांसारिक दृष्टिकोण के अनुसार ही प्रत्येक देवता का एक पृथक् निवास स्थान नियत कर दिया गया है और उनके जीवन की प्रणाली भी मानवी कल्पना के अनुसार ही निश्चित की गई है।

कुछ स्पष्ट उदाहरण भी राम मोहनराय ने दिये हैं, जिनसे प्रकट हो जायगा कि किस प्रकार लोगों ने अपनी धारणाओं के अनुसार ही देवताओं को रूप दे दिया है। उदाहरण के लिये, शिव के भक्त, शास्त्रों के वास्तविक अभिप्राय को न समझ कर न केवल शिव की पृथक दैवी सत्ता में ही अपना अविचल विश्वास प्रकट करते हैं, अपितु यह भी मानते हैं कि वह सर्वशक्तिमान है, सब देवताओं से बड़ा है और कैलास पर्वत पर निवास करता है। उसके दो स्त्रियाँ और अनेक पुत्र हैं तथा वह कई सेवकों से घिरा रहता है। इसी प्रकार विष्णु के उपासक विष्णु को अन्य देवताओं से प्रमुख मानते हैं और यह भी कहते हैं कि वह अपनी स्त्री और सेवकों सहित वैकुण्ठ में रहता है। ऐसा ही काली के उपासकों का विचार अपनी देवी के सम्बन्ध में है। यह बात प्रत्येक वर्ग के हिन्दू मूर्ति पूजक के विषय में कही जा सकती है। ये भक्तगण अपने अपने आराध्यों के प्रति इतने कट्टर विचार रखते हैं कि जब जब वे हरिद्वार, प्रयाग, शिवकाञ्ची, विष्णुकाञ्ची, आदि तीर्थ स्थानों में एकत्र होते हैं तो अपने अपने देवताओं की श्रेष्ठता को लेकर न केवल गरमागरम बहस ही करते हैं अपितु कभी कभी हिंसा पर भी उतारू हो जाते हैं।

उपासक लोग मूर्तियों को प्रतीक मात्र भी नहीं मानते। वे तो यह जानते हैं कि मूर्तियाँ अपने आप में पूजा की वस्तु हैं। इसका कारण यह है कि चाहे हिन्दू किसी मूर्ति को बाजार से खरीदे या अपने हाथ से बनाये, अथवा अपने निरीक्षण में उसका निर्माण कराये, वह यह जानता है कि इसमें प्राण प्रतिष्ठा का संस्कार कराने से एक अलौकिक शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है और वह केवल भौतिक ही नहीं रह

जाती । थोड़े दिन बाद, यदि मूर्ति किसी पुरुष देवता की हुई तो वह अन्य स्त्री देवी से उसका विवाह उतनी ही धूमधाम और ठाठ बाट से करता है मानो वह अपनी संतान को ही ब्याह रहा है । मूर्ति पूजकों के कर्तव्यों की इति श्री यहीं तक नहीं हो जाती । मूर्ति के देवता को प्राणधारी समझते हुये पुजारी लोग उसे भोग लगाते हैं, अथवा यों कहिये कि प्रातः सायं भोग लगाने का अभिनय करते हैं । गर्मी में उनके व्यजन का प्रबन्ध करते हैं और सर्दी में भी आराम का पूरा ध्यान रखते हैं। दिन में मूर्तियों को गरम वस्त्र पहनाते हैं और रात्रि को गुदगुदे बिछौने पर सुलाते हैं। परन्तु अंध विश्वासों का अंत यहीं तक नहीं होता। मूर्तियों के विषय में अन्य ऐसी क्रियायें की जाती हैं, जिनका वर्णन करना शिष्टता के प्रतिकूल है ।"१

स्वामी दयानन्द ने भी मूर्तियों में प्राण प्रतिष्ठा के सिद्धान्त को हास्यास्पद बताते हुये लिखा है—"जो मंत्र को पढ़ कर आवाहन करने से देवता आ जाता है तो मूर्ति चेतन क्यों नहीं हो जाती ? और विसर्जन करने से चला क्यों नहीं जाता ? और वह कहाँ से आता और कहाँ जाता है ? पूर्ण परमात्मा न आता और न जाता है । जो तुम मंत्र बल से परमेश्वर को बुला लेते हो तो उन्हीं मंत्रों से अपने मरे हुये पुत्र के शरीर में जीव को क्यों नहीं बुला लेते ? और शत्रु के जीवात्मा का विसर्जन करके क्यों नहीं मार सकते ? सुनो भाई भोले भाले लोगों, ये पोपजी तुम को ठग कर अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। वेदों में पाषाणादि मूर्ति पूजा और परमेश्वर के आवाहन विसर्जन करने का एक अक्षर भी नहीं है ।"२

मंदिरों में मूर्तियों को लेकर पुजारी लोग जो खेल, तमाशे, उत्सव, समारोह आदि करते हैं, उसका चित्रण राम मोहनराय ने बड़े यथार्थ

---

१ वही पृ० ६८

२ सत्यार्थप्रकाश एकादश समुल्लास

वादी ढंग से किया है, जो ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। स्वामी दयानन्द ने भी सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में ऐसी अनेक बातें लिखी हैं जिनसे पुजारियों की चालाकी और उनके द्वारा भोले लोगों के ठगे जाने के अनेक उदाहरण प्रत्यक्ष हो जाते हैं।

कई लोग वेदान्ती भावुकता से यह कहकर मूर्ति पूजा का औचित्य सिद्ध करना चाहते हैं कि ईश्वर सर्व व्यापक है, अतः वह प्रत्येक प्राणी के भीतर भी विराजमान है परन्तु प्रत्येक चराचर की पूजा असम्भव है, इस लिये मूर्तियों को पूजने में कोई हानि नहीं। ईश्वर तो उनमें भी विद्यमान है राम मोहनराय इसके उत्तर में कहते हैं कि मूर्ति पूजक तो कुछ लाख देवी देवताओं को ही स्वीकार कर संतुष्ट हो जाते हैं, परन्तु वेदान्त की दृष्टि से तो प्रत्येक प्राणी को ही ईश्वर मानना चाहिये। उनके वास्तविक शब्द ये हैं—

"The idolators are contended with the reco nition of only a few millions of gods & goddesses, but the Vedant in that case must be supposed to admit the divinity of every living creatu e in nature."[1]

इसी बात को और स्पष्ट करते हुये वे लिखते हैं—

"Omnipresence, however, is an attribute much more consonent with the idea of a supreme being than with that of any fictitious figure to which they pay divine honour."

अर्थात् सर्व व्यापकता एक ऐसा गुण है जो परमात्मा को सर्वोच्च सत्ता का ही पर्याप्त हो सकता है, न कि उस काल्पनिक मूर्ति की, जिसकी कि लोग पूजा करते हैं।

मूर्ति पूजा के कुछ अन्य समर्थक इसे अन्तःकरण शुद्धि का साधन मानते हैं। राम मोहनराय उनसे असहमति प्रकट करते हुये लिखते हैं—

---

[1] ibid. P. 69.

"Purity of mind is the consequence of divine worship and not of any superstitious practices " 1

मन की शुद्धि ईश्वर की आराधना का फल हो सकती है न कि अंध विश्वास पूर्ण क्रियाओं का।

अनेक लोग मूर्ति पूजा का इस लिये भी समर्थन करते हैं कि यह एक प्रचलित प्रथा है और इसका विरोध करना अच्छा नहीं। यद्यपि यह कोई उचित तर्क नहीं है, परन्तु फिर भी राम मोहनराय इसका अत्यन्त युक्ति संगत समाधान करते हैं। वे लिखते हैं—

"Custom or fashion is quite different from divine faith ; the latter proceeding from spiritual authorities and correct reasoning, and the former merely the fruit of vulgar caprice. What can justify a man, who believes in the inspiration of his religious books, in neglecting the direct authorities of the same works, and subjecting himself entirely to custom and fashion which are liable to perpetual changes and dep nd upon popular whim ? But it can not be passed unnoticed that those who practise idolatory and defend it under the shield of custom, have been violating their customs almost every twenty years, for the sake of little convinience, or to promote their worldly advantage " 2

अर्थात् ईश्वर विश्वास से प्रचलित रीति रिवाज पृथक् हैं। ईश्वर विश्वास की उत्पत्ति सत् पुरुषों के उपदेश और शुद्ध विचार से होती है, जब कि रीति रिवाज अंधाधुन्ध ढंग से पैदा हो जाते हैं। उस व्यक्ति के कार्य को न्यायोचित कैसे बताया जा सकता है जो एक ओर तो धार्मिक पुस्तकों को प्रामाणिक मानते हुये भी उनकी अवहेलना करता

1 ibid P. 70,
2 ibid. P 70-71.

है और दूसरी ओर उन प्रचलित रिवाजों का सहारा लेता है जिनका परिवर्तित होना निश्चित है। परन्तु यह कहे बिना भी नहीं रहा जा सकता कि जो व्यक्ति मूर्ति पूजा करते हैं वे ही व्यक्ति प्रत्येक बीस वर्ष बाद अपने रीति रिवाजों को बदल देते हैं, चाहे उनका यह बदलना थोड़ी सुविधा के लिये हो अथवा सांसारिक लाभ की दृष्टि से हो।

राम मोहनराय ने अपने बंग प्रान्त के सामाजिक परिवर्तनों के उदाहरण देकर ही बताया है कि रीति रिवाज कितने शीघ्र परिवर्तित हो जाते हैं—

(१) बंगाल के निवासियों ने प्राचीन स्मृति कालीन धार्मिक कृत्यों को छोड़ कर स्मार्त रघुनन्दन का अनुकरण किया है।

(२) समाज का विभिन्न जातियों और उपजातियों में बंट जाना भी आधुनिक है।

(३) यूरोपियन लोगों को वेद, स्मृति और पुराण आदि की शिक्षा देना भी तथा कथित प्राचीनता के विरुद्ध है। अतः सामाजिक जीवन में रीति रिवाजों का परिवर्तित होना आवश्यक है, अतः मूर्ति पूजा का समर्थन इस आधार पर नहीं किया जा सकता कि यह अनेक शताब्दियों से प्रचलित है और इसे समाप्त नहीं किया जा सकता।

पौराणिक पण्डितों से राम मोहनराय के जो लिखित शास्त्रार्थ होते रहते थे उनमें भी मूर्ति पूजा का विषय ही प्रमुख होता था। इसी प्रकार स्वामी दयानन्द ने भी अपने जीवन काल में पौराणिक पण्डितों से सैकड़ों शास्त्रार्थ किये। अधिकांश का विषय मूर्ति पूजा ही था। काशी शास्त्रार्थ तो धार्मिक जगत में अत्यन्त प्रसिद्ध है। क्योंकि वहाँ विशुद्धानन्द और बाल शास्त्री जैसे पण्डितों के विद्यमान होते हुये भी मूर्ति पूजा को वेदोक्त सिद्ध नहीं किया जा सका। कलकत्ता के समीप हुगली नगर में पं० ताराचरण तर्करत्न ने तो मूर्ति पूजा का पक्ष लेते लेते उपासना मात्र को ही भ्रम मूलक कह कर स्वसिद्धान्त पर कुठार चलाया

था। वह थी दयानन्द की क्रान्तदर्शी प्रतिभा जिसके सम्मुख विरोधियों के तर्क बाण कुण्ठित हो जाते थे।

मद्रास के एक शंकर शास्त्री नामक पण्डित ने राम मोहनराय पर कुछ आक्षेप किये और मूर्ति पूजा को शास्त्रानुमोदिन सिद्ध करने का प्रयास किया तो राम मोहनराय ने उनका उत्तर A Defence of Hindu Theism के शीर्षक से दिया। दूसरी बार गवर्नमेन्ट कालेज कलकत्ता के पण्डित मृत्युञ्जय विद्यालंकार ने 'वेदान्त चन्द्रिका' नाम से एक पुस्तक प्रकाशित की जिसका उत्तर राम मोहनराय ने Second Defence of the Monotheistical system of the Vedas के नाम से दिया। इसमें उन्होंने मूर्ति पूजा का तीव्र खण्डन करते हुये लिखा —

"Idolatory as now practised by our country men, and which the learned Brahmin so zealously supports as conducive to morality is not only rejected by the shastras universally, but must also be looked upon with great horror by commonsense, as leading directly to immorality and destructive to social comforts. For every Hindu who devotes himself to this absurd worship, constructs for that purpose a couple of male and female idols sometimes indecent in form, as representatives of their favourite deities. He is taught and enjoined from his fancy to contemplate and repeat history of these, as well as their fellow deities, though the actions ascribed to them be only a continued series of debauchery, sensuality, falsehood, ingratitude, breach of trust and treachery to friends." [1]

अर्थात् मूर्ति पूजा, जो कि आज हमारे देश वासियों द्वारा

[1] P. 112.

व्यवहार में आती है और जिसका कि विद्वान् ब्राह्मण ने नैतिकता की वृद्धि करने वाली मान कर समर्थन किया है, न केवल शास्त्रों के द्वारा पूर्ण रूप से त्याज्य ही बताई गई है अपितु उसे अनैतिकता का प्रसार करने वाली तथा सामाजिक सुखों का उच्छेद करने वाली मानकर भय की दृष्टि से देखने का आदेश दिया गया है। जो हिन्दू इस बेहूदी विधि का आचरण करता है वह अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये कुछ नर और मादा मूर्तियाँ बना लेता है, जो अकसर शक्ल सूरत की दृष्टि से घिनौनी और बदसूरत होती हैं, परन्तु जिन्हें वह अपने इष्ट देवता की प्रतिनिधि मानता है। उसे बाल्यकाल से ही यह सिखलाया जाता है कि वह इन देवताओं के इतिहास का पुनः पुनः मनन और विचार करे, चाहे इतिहास और पुराणों में उन देवताओं के कृत्य निरन्तर हिंसा, विषय लोलुपता, मिथ्याचरण, कृतघ्नता, विश्वासघात और मित्र द्रोह ही क्यों न बताये गये हों।

Is the sight of the image unpleasin ?

क्या मूर्तियों को देखना भी आपको बुरा लगता है ? इस प्रश्न के उत्तर में राम मोहनराय ने कलकत्ते के कालीघाट की ओर संकेत किया जो वाममार्गी तांत्रिक उपासना का केन्द्र रहा है और अब भी है। वे लिखते है—

"It is extremely natural that, to a mind whose purity is not corrupted by a degrading superstition, the sight of images which are often of the most tedious or indecent description, and which must therefore excite disgust in the mind of the spectator, should be unpleasing. A visit to Kalighat or Burahnugur, which are only four miles distant from Calcutta will sufficiently convince the reader of the unpleasant nature of their beloved images." [1]

---

1 IBID P. 114

अर्थात् यह पूर्ण रूप से सत्य है कि उस मनुष्य को, जिसके मन की पवित्रता, अंध विश्वासों के कारण विकृत नहीं हुईहै, ये अत्यन्त बीभत्स और भद्दी मूर्तियाँ नितान्त घृणित प्रतीत होंगी और वह उन्हें देखना भी पसन्द नहीं करेगा। कालीघाट और बड़ा नगर की यात्रा, जो कलकत्ते से केवल चार मील दूर है, पाठकों के समक्ष उनकी प्रिय मूर्तियों का अत्य त अप्रिय रूप उपस्थित कर देगी। इसी प्रसंग में राम मोहनराय ने यह भी बताया हैकि यदि किसी व्यक्ति को बंदर, मछली, सूअर या हाथी के रूप में प्रदर्शित किया जाय तो वह अत्यन्त क्रुद्ध होगा परन्तु ये मूर्ति पूजक हनुमान, मत्स्य, वराह और गणेश आदि देवताओं की कल्पना कर ईश्वर की ऐसी ही हास्यास्पद आकृतियाँ प्रदर्शित करते हैं।

राम मोहनराय के लेखों और ग्रन्थों के उपयुक्त विस्तृत उद्धरणों से पाठकों को यह भली भांति विदित हो गया होगा कि वे मूर्ति पूजा को किस दृष्टि से देखते थे। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि मूर्ति पूजा की कटु आलोचना करने से उनका तात्पर्य प्राचीन वैदिक धर्म की निन्दा करना नहीं था। उनका उद्देश्य तो वैदिक धर्म में आई हुई उन विकृतियों की आलोचना करना था, जिनके कारण धर्म का घोर ह्रास हो रहा था। उन्होंने यह स्पष्ट लिखा है—

"The ground which I took in all my controversies was, not the opposition of Brahmanism, but to a perversion of it; and I endavoured to show that the idolatry of Brahmins was contrary to the practice of their ancestors, and the principles of the ancient books and authorities which they profess to revere and obey.'[1]

अर्थात् मैंने अपने समस्त विवादों में ब्राह्मण धर्म का विरोध नहीं किया, अपितु उसके विपरीत यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि

[1] Autobiographical sketch. P. 224.

मूर्ति पूजा उनके पूर्वजों तथा प्राचीन धर्म ग्रन्थों के भी विरुद्ध है, जिन्हें वे मान्य और आदरणीय समझते हैं।

स्वामी दयानन्द का भी यही दृष्टि कोण था। उनके विचार से भी मूर्ति पूजा की प्रथा प्राचीन वैदिक धर्म की भावना के प्रतिकूल थी। स्वामीजी ने भारत में मूर्ति पूजा के उद्भव और विकास का ऐतिहासिक विश्लेषण करते हुये बताया है कि यह प्रथा हमारे देश के धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक उन्नति के मार्ग में कितनी बाधक हुई है, और इस से हिन्दुओं का कितना चारित्रिक पतन हुआ है। स्वामीजी के मूर्ति पूजा विषयक विचार यों तो उनके सभी छोटे मोटे ग्रन्थों में बिखरे हुये मिलते हैं, परन्तु सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में इस विषय का अधिक विस्तार है। वहाँ मूर्ति पूजा की शास्त्रीय और ऐतिहासिक गवेषणा पूर्ण विवेचना तो मिलती ही है, साथ ही जिन जिन तीर्थ स्थानों में मूर्तियों के चमत्कार बतलाये जाते हैं उनकी वास्तविकता से जन साधारण को परिचित कराया गया है। यहाँ सत्यार्थप्रकाश के मूर्ति पूजा विषयक उद्धरण देकर हम ग्रन्थ के कलेवर की वृद्धि करना नहीं चाहते। जिज्ञासुओं को मूल ग्रन्थ ही पढ़ना चाहिये।

यहाँ तक तो ऋषि दयानन्द और राम मोहनराय के मूर्ति पूजा विषयक विचारों में समानता है, परन्तु इस विषय के एक अत्यन्त महत्व पूर्ण पहलू पर दोनों में गम्भीर भी मतभेद है, जिसकी चर्चा करनी यहाँ आवश्यक है। स्वामी दयानन्द ने मूर्ति पूजा को प्रत्येक व्यक्ति के लिये तथा प्रत्येक परिस्थिति में हानिकारक और सदाचार की नाशक बताया है। राम मोहनराय बहुत सीमा तक इस बात को स्वीकार करते हुये भी साधारण जनों के लिये, जिनका मस्तिष्क पूर्ण विकसित नहीं हुआ है और जो ईश्वर के निराकार स्वरूप का चिन्तन करने में असमर्थ हैं, मूर्ति पूजा की उपयोगिता स्वीकार करते हैं। मुण्डक उपनिषद् के अंग्रेजी अनुवाद के प्रारम्भ में वे लिखते हैं—

"Vedas, although they tolerate idolatry as the last provision for those who are totally incapable of raising their minds to the contemplation of the invisible God of nature, yet repeatedly urge the relinquishment of rites of idol-worship, and the adoption of a purer system of religion, on the express ground that the observance of idolatrous rites can never be productive of eternal beatitude."[1]

अर्थात् वेदों में मूर्ति पूजा का विधान उन लोगों के लिये है जो निराकार और इन्द्रियातीत परमात्मा का ध्यान करने में असमर्थ हैं, परन्तु उनको भी यह बार बार आदेश दिया गया है कि वे मूर्ति पूजा छोड़ कर उपासना का अधिक शुद्ध रूप अपनायें क्यों कि मूर्ति पूजा के द्वारा शाश्वत मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इसी प्रकार शंकर शास्त्री को उत्तर देते हुये वे लिखते हैं—

'Worship of concecrated objects is enjoined by the shastras to those only who are incapable of raising their minds to the notion of an invisible supreme being."

अर्थात् जड़ पदार्थों की पूजा शास्त्रों ने उन लोगों के लिये बताई है जो अत्यन्त सूक्ष्म, निराकार ईश्वर का ध्यान नहीं कर सकते।

हमारा नम्र निवेदन है कि यदि मूर्ति पूजा की उपादेयता स्वीकार ही करनी थी, तो फिर उसका खण्डन करने की क्या आवश्यकता थी ? इन उद्धरणों से तो यह स्पष्ट हो गया कि अल्पमति, अपरिपक्व साधना वाले व्यक्तियों के लिये राम मोहनराय ने मूर्ति पूजा के औचित्य को स्वीकार कर लिया है। मूर्ति पूजा के समर्थक भी तो कहते हैं—"प्रतिमा स्वल्प बुद्धिनां" फिर उनमें और राम मोहनराय में अन्तर ही क्या ?

स्वामी दयानन्द के विचार इस विषय में राम मोहनराय से

---

[1] Introduction to the translation of the Moonduk Opunishud. P. 21.

नितान्त भिन्न है। उन्होंने मूर्ति पूजा का औचित्य कभी भी किसी दशा में स्वीकार नहीं किया। उन्होंने तो स्पष्ट लिखा है—"मूर्ति पूजा सीढ़ी नहीं, किन्तु एक बड़ी खाई है जिसमें गिर कर चकनाचूर हो जाता है। पुनः उस खाई से निकल नहीं सकता किन्तु उसी में मर जाता है। हाँ, छोटे धार्मिक विद्वानों से लेकर परम विद्वान् योगियों के संग से सद्विद्या और सत्य भाषणादि परमेश्वर की प्राप्ति की सीढ़ियाँ हैं। जैसे ऊपर घर में जाने को निःश्रेणी होती है। किन्तु मूर्तिपूजा करते करते ज्ञानी तो कोई नहीं हुआ, प्रत्युत सब मूर्ति पूजक अज्ञानी रह कर मनुष्य जन्म खोकर बहुत बहुत से मर गये और जो अब हैं अथवा होंगे वे भी मनुष्य जन्म के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति रूप फलों से विमुख होकर निरर्थ नष्ट हो जायेंगे।"१ इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मूर्तिपूजा के विषय में दोनों आचार्यों में कहाँ मतभेद है?

अब हमें इसके कारण पर विचार करना पड़ेगा। क्यों राजा राममोहनराय ने मूर्तिपूजा को अल्प बुद्धि और अविकसित मस्तिष्क वाले लोगों के लिये ग्राह्य बताया और क्यों स्वामी दयानन्द ने उसका सर्वांश में निषेध किया। इसका कारण वही है जिसका हम शास्त्र प्रामाण्य विषय के अन्तर्गत विचार कर चुके हैं। स्वामी दयानन्द की दृष्टि में केवल वेद ही स्वतः प्रमाण हैं। अन्य ऋषि कृत ग्रन्थ वेदानुकूल होने से ही प्रामाणिक माने जा सकते हैं। मनु के अतिरिक्त स्मृतियाँ, अष्टादशपुराण और तंत्रों के वचन महर्षि के शास्त्रालोचन में कोई महत्व नहीं रखते। ऋषि दयानन्द इन्हें अनार्ष और आधुनिक समझते थे। अतः उन्होंने मूर्ति पूजा के विषय में शास्त्रालोडन करने के पश्चात् यह सिद्धान्त स्थिर किया कि वेदों में मूर्ति पूजा का विधान नहीं है और न उपनिषद्, ब्राह्मण, दर्शन एवं मनुस्मृति आदि में ही इसका कोई संकेत है। अब इन प्रमाणिक ग्रन्थों के अतिरिक्त जिन ग्रन्थों में उन्हें

१ सत्यार्थप्रकाश एकादश समुल्लास

मूर्तिपूजा का विधेयात्मक उल्लेख मिला, उनका उन्होंने अप्रमाण किया और उन्हें त्याज्य ग्रन्थ बतलाया।

राम मोहनराय की स्थिति इसके सर्वथा अनुकूल नहीं थी। उन्होंने भी यद्यपि शास्त्रालोचना में वेद प्रमाण को महत्व दिया, परन्तु वे इस सिद्धान्त पर दृढ़ता पूर्वक आरूढ़ नहीं रह सके। उनके वेद विषयक विचार उतने स्पष्ट और दृढ़ नहीं थे जितने स्वामी दयानन्द के और न उन्होंने उपनिषद् और संहिता को पृथक ही समझा। अतः जहाँ कहीं उन्हें प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थों में मूर्ति पूजा के स्पष्ट या अस्पष्ट संकेत मिले, उन्हें उनके सम्मुख नतशिर होना पड़ा और विवश होकर उन्होंने ये शब्द लिखे —

'Vedas (?), although they tolerate idolatry as the last provision for those ... ... '

आदि परन्तु उन्होंने यह नहीं बताया कि वे कौन से वेद हैं जो मूर्ति पूजा का विधान अल्प मति वाले लोगों के लिये करते हैं। काश, राम मोहनराय के हाथ में भी संहिता प्रमाणवाद और आर्ष ग्रन्थों के यथार्थ सिद्धान्त की कुञ्जी होती। ऐसी दशा में वे यह लिखने के लिये कभी विवश नहीं होते कि शास्त्रों ने किसी भी रूप में मूर्ति पूजा को स्वीकार किया है।

स्वामी दयानन्द ने जिस दृढ़ता और हार्दिकता के साथ जड़ उपासना का निषेध किया, उसी का यह परिणाम है कि उनके द्वारा संस्थापित आर्यसमाज में मूर्ति पूजा का किसी भी रूप में समावेश नहीं हो सका। इसके विपरीत, यद्यपि राम मोहनराय ने ब्राह्म समाज के Trust Deed में ही यह लिख दिया था-"इस उपासनालय की परिधि में कभी किसी की मूर्ति, प्रतिमा या चित्र आदि का प्रवेश न होने दिया जाय।"[१] फिर भी दैव दुर्विपाक से उनके देहान्त के कुछ वर्ष पश्चात्

१ भारत निर्माता भाग २ पृ० १५

ही ब्राह्मसमाज के प्रसिद्ध नेता केशवचन्द्र सेन ने मूर्ति पूजा की नूतन ढंग से व्याख्या को और उसे अपने समाज में स्थान दिया। हमारा यह अनुमान है कि यदि राम मोहनराय बिना किसी लागलपेट या शर्त के मूर्ति पूजा को अनुपयोगी और हानिकारक बताते और किसी भी व्यक्ति के लिये चाहे वह कितना हो स्थूल बुद्धि वाला और मूढ़ क्यों न हो, मूर्ति पूजा की व्यवस्था नहीं करते तो ब्राह्मसमाज में केशवचन्द्र सेन को मूर्ति पूजा पुनः प्रचलित करने का साहस नहीं होता।

आर्यसमाज के नियमों और उपनियमों में यद्यपि इस बात का कहीं उल्लेख नहीं है कि आर्य मंदिरों में चित्र या मूर्ति आदि स्थापित न की जाय। अकसर देखा यही गया है कि आर्य मंदिर महापुरुषों के चित्रों से अलंकृत रहते हैं, परन्तु आर्यसमाज में मूर्ति पूजा का प्रवेश अद्यतन नहीं हो सका। इसका श्रेय इसके प्रवर्तक ऋषि दयानन्द और उनके अनुयायियों को ही है क्योंकि उन्होंने ही वेद के इस मंत्र के भाव को यथार्थ रीति से समझा था—'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।" उस महान यश वाले परमात्मा की कोई प्रतिमा नहीं है।

अध्याय ६

दार्शनिक दृष्टिकोण

प्रस्तुत अध्याय में राम मोहनराय और स्वामी दयानन्द के दार्शनिक दृष्टि कोण पर विचार करना है। स्वामी दयानन्द का दार्शनिक स्वरूप अभी तक संसार के समक्ष उचित प्रकार से नहीं आया है। लोग उन्हें एक उच्च कोटि का हिन्दू सुधारक और वैदिक धर्म का पुनरुद्धारक तो अवश्य मानते हैं परन्तु ऐसे कितने हैं जो उनके दार्शनिक सिद्धान्तों से अभिज्ञ हैं। वस्तुतः स्वामी दयानन्द ही भारतीय दार्शनिकों में ऐसे यथार्थवादी विचारक के रूप में हमारे समक्ष आते हैं जिन्होंने दर्शन

शास्त्र की मूल समस्या को सुलझाने के लिये जो समाधान प्रस्तुत किया है वह ओजस्वी, सीधा, स्पष्ट और प्रौढ़ है।

स्वामी जी के दार्शनिक सिद्धान्तों का आधार है वेद। वैसे तो भारत के समस्त आस्तिक दार्शनिक वेदों को सर्वोपरि प्रमाण स्वीकार करते हैं, परन्तु स्वामी दयानन्द और उनके वेद प्रमाणवाद में एक मौलिक अंतर है। कहने को तो शंकर और रामानुज भी वेद प्रमाण को स्वीकार करते हैं, परन्तु तथ्य की दृष्टि से देखा जाय तो उनके द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद जैसे दार्शनिक मतवादों का वेदों से समर्थन नहीं होता। शंकर, रामानुज आदि मध्यकालीन आचार्यों के समय में वेद का तात्पर्य संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि सभी ग्रन्थों से लिया जाता था। ऐसी परिस्थिति में इन आचार्यों ने उपनिषदों को ही अपने सिद्धान्तों का आधार बनाया और उन्हें ही 'श्रुति प्रमाण' की कोटि में रख लिया। परन्तु यह सिद्ध है कि न तो उपनिषद् ही वेद हैं और न वेदों में जीव, ईश्वर की एकता और संसार के मिथ्यात्व का ही प्रतिपादन किया है।

स्वामी दयानन्द की स्थिति इससे भिन्न थी। वेदों का गम्भीर परिशीलन करने के पश्चात् उन्होंने वेदोक्त दार्शनिक सिद्धान्त को विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया। उनके द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्त त्रैतवाद कहलाता है। वैदिक प्रमाणों से अनुमोदित होने के साथ साथ युक्ति और तर्क की दृष्टि से भी त्रैतवाद एक सुदृढ़ मत है। त्रैतवाद की सत्यता का एक अत्यन्त प्रबल और स्पष्ट कारण यह है कि आज तक किसी भी दार्शनिक को इसके मूलस्वरूप का विरोध करने का साहस नहीं हुआ। अद्वैतवाद के प्रबल पोषक और समर्थक शंकराचार्य चाहे पारमार्थिक दृष्टि से एक ब्रह्म के अतिरिक्त और सभी नित्य सत्ताओं को अस्वीकार कर दें, परन्तु उन्हें भी व्यावहारिक दृष्टि से ईश्वर, जीव और प्रकृति, तीनों तत्वों का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ा है। यह

त्रैतवाद की स्पष्ट विजय है। रामानुज का सिद्धान्त तो त्रैतवाद के और भी समीप है। मध्व का द्वैतवाद शांकर मत की ही प्रतिक्रिया है अतः वह स्पष्ट ही जीव और ईश्वर के पृथक्त्व का मण्डन करता है। इसी प्रकार निम्बार्क का द्वैताद्वैत और चैतन्य का अचिन्त्यभेदाभेद आदि मत भी अद्वैतवाद के शंकर द्वारा निरूपित स्वरूप से गहरा मतभेद रखते हैं। प्रत्येक सिद्धान्त में ईश्वर, जीव और प्रकृति की सत्ताओं को स्वीकार किया गया है, किसी ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है और किसी ने परोक्ष रूप में। अस्तु।

त्रैतवाद के समर्थन में जो सर्व प्रसिद्ध वेद मंत्र प्रस्तुत किया जाता है वह ऋग्वेद का निम्न मंत्र है—"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥१ इस मंत्र का अर्थ महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश में इस प्रकार किया है—"जो ब्रह्म और जीव दोनों चेतनता और पालनादि गुणों से सदृश, व्याप्य, व्यापक भाव से संयुक्त, परस्पर मित्रता युक्त सनातन अनादि हैं, और वैसा ही अनादि मूल रूप कारण और शाखा रूप कार्य युक्त अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न भिन्न हो जाता है, वह तीसरा अनादि पदार्थ। इन तीनों के गुण, कर्म, स्वभाव भी अनादि हैं। इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है वह इस वृक्ष रूप संसार में पाप पुण्य रूप फलों को अच्छी प्रकार भोगता है और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को न भोगता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर, बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है। जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न स्वरूप तीनों अनादि हैं।"२

इसी वेद मंत्र का समर्थन श्वेताश्वतर उपनिषद् में "अजामेकां

---

१ ऋग्वेद १।१।६४।२०

२ सत्यार्थप्रकाश अष्टम समुल्लास

लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपा।"[1] आदि वाक्यों में किया गया है। ऋषि दयानन्द इस उपनिषद् वाक्य का अर्थ करते हुये लिखते हैं, "प्रकृति, जीव, और परमात्मा तीनों अज, अर्थात् जिनका जन्म कभी नहीं होता और न कभी ये जन्म लेते अर्थात् ये तीन जगत् के कारण हैं। इनका कारण कोई नहीं। इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फंसता है और उसमें परमात्मा न फंसता और न उसका भोग करता है।"[2]

महर्षि दयानन्द ने इस प्रकार त्रैतवाद का संस्थापन किया और अद्वैतवाद की आलोचना की। सत्यार्थप्रकाश के सप्तम, अष्टम, नवम और एकादश, इन चार समुल्लासों में प्रसंगवश अद्वैतवाद की समीक्षा की गई है। इसके अतिरिक्त अद्वैतवाद के खण्डन में स्वामीजी ने एक पुस्तक पृथक् रूप से भी लिखी थी जो "वेदान्तध्वान्त निवारण" के नाम से प्रसिद्ध है। स्वामीजी के दार्शनिक सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त करने के लिये सत्यार्थप्रकाश के अतिरिक्त आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय के आस्तिकवाद, अद्वैतवाद, जीवात्मा, शांकरभाष्या लोचन एवं Philosophy of Dayanand[3] तथा उनके सुपुत्र डा० सत्यप्रकाश द्वारा लिखित A critical study of the philosophy of Dayanand आदि ग्रन्थ पढ़ने चाहिये।

राम मोहनराय के दार्शनिक सिद्धान्त उनके द्वारा किये गये विभिन्न उपनिषदों के अनुवादों एवं अन्य शास्त्रार्थ विषयक ग्रन्थों में प्रकट हुये हैं। राम मोहनराय ने शांकर भाष्य के आधार पर वेदान्त दर्शन का संक्षिप्त अनुवाद अंग्रेजी में किया था। इसके अतिरिक्त ईश, केन, कठ और मुण्डक नषद् का उनके द्वारा किया गया अनुवाद भी उपलब्ध

---

१ श्वेताश्वतर उपनिषद् ४।५

२ सत्यार्थप्रकाश अष्टम समुल्लास

३ कला प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित

है। इनमें राम मोहनराय ने शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद का ही अनुमोदन किया है। वस्तुतः राम मोहनराय ने दार्शनिक जगत में कोई अभूतपूर्व क्रान्ति नहीं की। उनका कार्य क्षेत्र मुख्यतः धर्म और समाज ही रहा। हिन्दू धर्म के अनुयायियों से उनका मुख्य विरोध मूर्ति पूजा और बहुदेव वाद को लेकर ही था। वे आजन्म एक ईश्वर की उपासना और जड़ पूजा की हानियाँ समझाते रहे, अतः किसी नवीन दार्शनिक मत का प्रचार करना अथवा दर्शन की पहेली पर सांगोपांग रूप से विचार करना उनके लिये असम्भव था।

राम मोहनराय ने यद्यपि शांकर मत को पूर्ण रूप में स्वीकार अवश्य कर लिया था, परन्तु उस पर उन्हें विशेष रूप से उहापोह करने का अवसर नहीं मिला था। वे ईश्वर को ही जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण स्वीकार करते थे। उनके जीवन चरित्र में आता है, "प्रकृति से भी विश्व की उत्पत्ति नहीं हुई, अणु से भी नहीं, जीव से भी नहीं, पृथ्वी की अधिष्ठात्री देवताओं से भी नहीं, सूर्य से भी नहीं, न्यारे देवता विश्व के उत्पादक नहीं। केवल अरूपी, निराकार, चैतन्यमय, अनादि, अनन्त और सर्वत्र व्यापक ब्रह्म विश्व का आदि कारण और धारण कर्त्ता है।"[१]

ऐसा अनुमान कर सकते हैं कि यदि अद्वैतवाद की त्रुटियाँ तथा उसकी असंगत एवं युक्ति विरुद्ध धारणायें राम मोहनराय के ध्यान में आतीं तो वे अवश्य ही अद्वैतवाद की मान्यता अस्वीकार कर देते। उदाहरण के लिये उपर्युक्त उद्धरण को ही लीजिये। इस वाक्य में राम मोहनराय का अभिप्राय प्रकृति, अणु, जीव या अन्य भौतिक पदार्थों की सत्ता को अस्वीकार कर देना नहीं है। इसमें उनके कथन का विशेष लक्ष्य है एक मात्र ईश्वर को विश्व का सृजक और पालक सिद्ध करना। जो लोग जीव और प्रकृति की अनादि सत्ता को ईश्वर

१ राजा राम मोहनराय ले० शिव नारायण द्विवेदी पृ० ५३

की सत्ता के साथ-साथ स्वीकार करते है उनका भी राममोहन राय के कथन से कोई विरोध नहीं है क्योंकि प्रकृति, अणु और जीव आदि को कोई भी सृष्टि का रचयिता स्वीकार नहीं करता। सृष्टिकर्ता तो एकमात्र ईश्वर ही है। अतः राममोहन राय ने जो कुछ धारणायें दार्शनिक सिद्धाँतो के सम्बन्ध में व्यक्त की हैं उनसे यह नहीं प्रकट होता कि उन्होंने शांकर अद्वैतवाद को शास्त्र और तर्क से सिद्ध करने के लिये कोई विशेष प्रयत्न किया हो।

यह अवश्य है कि प्रचलित दार्शनिक मतों में उन्हें शांकर का मत ही अधिक व्यापक और प्रभावशाली दृष्टि गोचर हुआ, अतः उन्होंने उसे ही मान्य स्वीकार कर लिया। उन्होंने शंकर की तरह न तो जीव और प्रकृति की सत्ता का ही खण्डन किया और न मायावाद और विवर्तवाद का ही समर्थन किया। यदि उन्हें यह बताया जाता कि ईश्वर को संसार का अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानने से अनेक कठिनाइयें उत्पन्न होती हैं, तो सम्भवतः वे भी स्वामी दयानन्द की तरह ईश्वर को निमित्त कारण और प्रकृति को उपादान कारण घोषित कर देते क्योंकि प्रकृति को संसार का उपादान कारण मान लेने से ईश्वर की सर्व शक्ति मत्ता और प्रभुता में तो किसी प्रकार की न्यूनता होती नहीं है। हाँ, तब यह सिद्धाँत सुसंगत और युक्तिपूर्ण अवश्य हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि यद्यपि राममोहन राय ने शंकराचार्य के सिद्धाँत के प्रति शाब्दिक आस्था अवश्य दिखाई है, परन्तु वे उसकी सूक्ष्म बातों को शब्दशः मानने के लिये विशेष उत्सुक नहीं हैं। एक ईश्वर की सत्ता को प्रतिपादित और प्रचारित करना उनके जीवन का उद्देश्य रहा, परन्तु उन्होंने कभी भी जीव और ईश्वर की एकता या प्रकृति के मिथ्या होने का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया। इसके विपरीत, उनके ग्रन्थों से तो यही विदित होता है कि वे ईश्वर और जीव में स्पष्ट अंतर मानते थे। उदाहरण के लिये इनके द्वारा

न्याय, वैशेषिक, मीमांसा आदि सभी दर्शनों का खण्डन किया और उन्हें अवैदिक सिद्ध करने का दुस्साहस किया। यह परस्पर खण्डन मण्डन का परम्परा शंकर परम गुरू गौड़पाद से प्रारम्भ हुई। जब वेदान्त के अनुयायी विद्वान लोग अन्य सांख्य, न्याय, मीमांसा आदि शास्त्रों का खण्डन करने लगे, तो इन दर्शनों के अनुयायी भी पीछे क्यों रहते। उन्होंने भी नवीन वेदान्त का खण्डन करने में अपनी सारी शक्ति और प्रतिभा व्यय करना प्रारम्भ कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि एक ऐसी विकृत परम्परा उत्पन्न हो गई जिसके कारण षटदर्शनों का समन्वयात्मक स्वरूप लुप्त हो गया और लोग साधारणतः इन दर्शन शास्त्रों को परस्पर विरोधी समझने लगे।

ऋषि दयानन्द को ही इस बात का श्रेय दिया जाना चाहिये कि उन्होंने सर्व प्रथम षटदर्शनों का समन्वयात्मक रूप लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया। उन्होंने यह बल पूर्वक प्रतिपादित किया कि इन दर्शनों की रचना उच्च कोटि के प्रतिभाशाली और मेधावी ऋषियों के द्वारा हुई है जिन्होंने समाधि अवस्था में ईश्वर साक्षात्कार किया था और जिन्हें समस्त भौतिक और आध्यात्मिक विद्यायें हस्तामलकवत् थी। ऋषियों के ग्रन्थों में परस्पर विरोध कुछ भी नहीं होता, यह ऋषि का दृढ़ विश्वास था। दूसरी बात यह है कि समस्त दर्शनकार एक मत होकर वेद को प्रमाणभूत ग्रन्थ स्वीकार करते हैं। अब यदि वे परस्पर विरुद्ध मत का प्रतिपादन करें तो उनका वेद को प्रामाणिक मानना कोई महत्व नहीं रखता। इस लिये ऋषि ने अपने ग्रन्थों में स्थान स्थान पर षटदर्शनों के समन्वयात्यक रूप का प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया है। यह अवश्य है कि ऋषि को अपने अत्यन्त व्यस्त कार्यक्रम के कारण इतना समय नहीं मिला कि वे स्वयं षटदर्शनों का समन्वयात्मक रूप प्रतिपादित करने के लिये कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ लिख जाते। जब वे अपने वेद भाष्य को ही पूर्ण नहीं कर सके तो अन्य ग्रन्थों की कथा ही क्या!

षट्दर्शनों के विषय में ऋषि के निम्न शब्द विचारणीय हैं—सृष्टि के भिन्न भिन्न छ अवयवों का शास्त्रों में प्रतिपादन करने से इनमें कुछ भी विरोध नहीं। जैसे घड़े के बनाने में कर्म, समय, मिट्टी, विचार सयोग वियोगादि का पुरुषार्थ, प्रकृति के गुण और कुम्हार कारण हैं, वैसे ही सृष्टि का जो कर्म कारण है उसकी व्याख्या मीमांसा में, समय की व्याख्या वैशेषिक उपादान कारण की व्याख्या न्याय में, पुरुषार्थ की व्याख्या योग में, तत्वों के अनुक्रम से परिगणन की व्याख्या सांख्य में और निमित्त कारण जो परमेश्वर है उसकी व्याख्या वेन्दात शास्त्र में है इसमें कुछ भी विरोध नहीं है।" १ इसका अभिप्राय यह है कि छहों दर्शनों के प्रतिपाद्य विषय भिन्न भिन्न हैं। अतः विषय और प्रतिपादन की दृष्टि से उन्हें विभिन्न मानने पर भी परस्पर विरोधी मानने का कोई कारण नहीं।

सप्तम समुल्लास में ऋषि ने सभी शास्त्रकारों को ईश्वरवादी सिद्ध किया है। सांख्याचार्य कपिल और उनके दर्शन पर अनीश्वरवादी होने का जो आरोप लगाया जाता है उसका खण्डन करते हुए ऋषि दयानन्द लिखते हैं" जो कोई कपिलाचार्य को अनीश्वरवादी कहता है, जानो वही अनीश्वरवादी है कपिलाचार्य नहीं। तथा मीमांसा का धर्म धर्मी से ईश्वर। वैशेषिक और न्याय भी "आत्मा" शब्द से अनीश्वरवादी नहीं, क्योंकि सर्वज्ञत्वादि धर्मयुक्त और "अतित सर्वत्र व्याप्नो तीत्यात्मा" जो सर्वत्र व्यापक और सर्वज्ञादि धर्म युक्त सब जीवों का आत्मा है उसी को मीमांसा, यैशेषिक और न्याय ईश्वर मानते हैं।" २

सृष्टि उत्पत्ति का विषय ऋषि ने आठवें समुल्लास में लिखा है। यहाँ भी षट्दर्शन समन्वय के महत्वपूर्ण कर्तव्य से वे च्युत नहीं हुये हैं। उनका कथन है-"छ शात्रों में अविरोध इस प्रकार है। मीमांसा में

---

१ सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास

२ ,, सप्तम ,,

"ऐसा कार्य कोई जगत् में नहीं होता कि जिसके बनाने में कर्म चेष्टा न की जाय" वैशेषिक में "समय न लगे बिना बने ही नहीं" न्याय में "उपादान कारण न होने से कुछ भी नहीं बन सकता" योग में विद्या, ज्ञान, विचार न किया जाय तो नहीं बन सकता" सांख्य में "तत्वों के मेल न होने से नहीं बन सकता" और वेदान्त में 'बनाने वाला न बनावे तो कोई भी पदार्थ उत्पन्न न हो सके' इस लिये सृष्टि छः कारणों से बनती है। उन छः कारणों की व्याख्या एक एक की एक एक शास्त्र में है। इस लिये उनमें विरोध कुछ भी नहीं है।"[१]

स्वामी दयानन्द के उपर्युक्त वचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋषियों के मन्तव्यों और सिद्धांतों में समन्वय देखने के लिये वे प्रबल प्रयत्न शील थे। यही बात हमें राजा राम मोहनराय में भी मिलती है। शंकराचार्य से भी कहीं अधिक उदार और समन्वयात्मक दृष्टिकोण रखने वाले हैं। वस्तुतः यह प्रसन्नता और संतोष का विषय है कि षट्दर्शनों पर असमञ्जस होने और परस्पर विरुद्ध होने के मिथ्या आक्षेपों का उन्होंने अत्यन्त चतुरता पूर्ण ढंग से उत्तर दिया।

१४ जुलाई १८२१ ई० के समाचार दर्पण, नामक एक बंगाली साप्ताहिक समाचार पत्र में किसी ईसाई प्रचारक ने एक पत्र प्रकाशित कराया, जिसमें वेदान्त न्याय मीमांसा सांख्य और योग आदि पर कुछ शंकायें की गई थीं और यह इच्छा प्रकट की गई थी कि उसी समाचार पत्र के द्वारा उनका समाधान प्रकाशित किया जाय। राम मोहन राय ने इन शंकाओं का उत्तर तैयार किया और उक्त पत्र में प्रकाशनार्थ भेजा, परन्तु पत्र सम्पादक ने छापने से इन्कार कर दिया। इस पर राजा राम मोहनराय ने स्वयं उक्त उत्तर को The Brahmunic Magazine No1 में प्रकाशित किया। इसमें उन्होंने अत्यन्त विद्वता पूर्ण और युक्तियुक्त ढंग से ईसाई पादरी के आक्षेपों का उत्तर

---

१ सत्यार्थप्रकाश अष्टम समुल्लास

दिया और सिद्ध कर दिया कि षट्दर्शनों में कोई बात मिथ्या और असंगत नहीं है। निष्कर्ष रूप में राम मोहनराय ने जो बात लिखा है वह यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि चाहे गौण बातों में इन शास्त्रकारों का मतभेद ही क्यों न हो, परन्तु ईश्वर को निराकार और अशरीरी मानने के विषय में एक मत हैं। राम मोहनराय लिखते हैं—

"The commentators in their interpretation of the Veda, though they differ from each other on subordinate subjects. yet all agree in ascribing to him neither form nor flesh, neither birth nor death."1

यहाँ एक बात भी स्मरण रखनी चाहिये कि राम मोहनराय इन दर्शन ग्रन्थों को वेदों का भाष्य और व्याख्या ग्रन्थ ही समझते हैं।2 और वस्तुतः में उनका यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त भी है क्योंकि इन दर्शनों में वेदोक्त सिद्धांतों का ही तार्किक दृष्टि से विवेचन और विश्लेषण किया गया है। इसी लिये दर्शन शास्त्रों की गणना वेदों के उपांगों में होती है।

यहाँ एक बात पर और विचार करलेना चाहिये ईसाई पादरी ने वेदान्त दर्शन पर जो शंकायें 'समाचार दर्पण' में की थीं, वे सब नवीन वेदान्त के सिद्धांतों से सम्बद्ध थीं। उसके निम्न चार प्रश्न थे—

(१) ब्रह्म और माया दोनों को साथ साथ कैसे स्वीकार किया जा सकता है यदि माया का अस्तित्व मानें तो ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता और अद्वितीय सत्ता खण्डित होती है।

(२) यदि ईश्वर और जीव एक ही हैं तो ईश्वर जीव का कर्मफल

---

1 The Brahmunical Magazine No. 1 p. 158.

2. In the first number of the magazine I replied to the arguments they adduced against the sastras, or immediate explanations of the Vedas, our original sacred books." Preface to the Second edition. p. 147.

"ऐसा कार्य कोई जगत् में नहीं होता कि जिसके बनाने में कर्म चेष्टा न की जाय" वैशेषिक में "समय न लगे बिना बने ही नहीं" न्याय में "उपादान कारण न होने से कुछ भी नहीं बन सकता" योग में विद्या, ज्ञान, विचार न किया जाय तो नहीं बन सकता" सांख्य में "तत्वों के मेल न होने से नहीं बन सकता" और वेदान्त में 'बनाने वाला न बनावे तो कोई भी पदार्थ उत्पन्न न हो सके' इस लिये सृष्टि छः कारणों से बनती है। उन छः कारणों की व्याख्या एक एक की एक एक शास्त्र में है। इस लिये उनमें विरोध कुछ भी नहीं है।"[१]

ऋषि दयानन्द के उपर्युक्त वचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋषियों के मन्तव्यों और सिद्धांतों में समन्वय देखने के लिये वे प्रबल प्रयत्न शील थे। यही बात हमें राजा राम मोहनराय में भी मिलती है। शंकराचार्य से भी कहीं अधिक उदार औ समन्वयात्मक दृष्टिकोण रखने वाले हैं। वस्तुतः यह प्रसन्नता और संतोष का विषय है कि षट्दर्शनों पर असमञ्जस होने और परस्पर विरुद्ध होने के मिथ्या आक्षेपों का उन्होंने अत्यन्त चतुरता पूर्ण ढंग से उत्तर दिया।

१४ जुलाई १८२१ ई० के समाचार दर्पण, नामक एक बंगाली साप्ताहिक समाचार पत्र में किसी ईसाई प्रचारक ने एक पत्र प्रकाशित कराया, जिसमें वेदान्त न्याय मीमांसा सांख्य और योग आदि पर कुछ शकायें की गई थीं और यह इच्छा प्रकट की गई थी कि उसी समाचार पत्र के द्वारा उनका समाधान प्रकाशित किया जाय। राम मोहन राय ने इन शंकाओं का उत्तर तैयार किया और उक्त पत्र में प्रकाशनार्थ भेजा, परन्तु पत्र सम्पादक ने छापने से इन्कार कर दिया। इस पर राजा राम मोहनराय ने स्वयं उक्त उत्तर को The Brahmuniclmagazine No1 में प्रकाशित किया। इसमें उन्होंने अत्यन्त विद्वता पूर्ण और युक्तियुक्त ढग से ईसाई पादरी के आक्षेपों का उत्तर

---

१ सत्यार्थप्रकाश अष्टम समुल्लास

दिया और सिद्ध कर दिया कि षट्दर्शनों में कोई बात मिथ्या और असंगत नहीं है। निष्कर्ष रूप में राम मोहनराय ने जो बात लिखी है वह यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि चाहे गौण बातों में इन शास्त्रकारों का मतभेद ही क्यों न हो, परन्तु ईश्वर को निराकार और अशरीरी मानने के विषय में एक मत हैं। राम मोहनराय लिखते हैं—

"The commentators in their interpretation of the Veda, though they differ from each other on subordinate subjects. yet all agree in ascribing to him neither form nor flesh, neither birth nor death."1

यहाँ एक बात भी स्मरण रखनी चाहिये कि राम मोहनराय इन दर्शन ग्रन्थों को वेदों का भाष्य और व्याख्या ग्रन्थ ही समझते हैं।२ और वस्तुतः में उनका यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त भी है क्योंकि इन दर्शनों में वेदोक्त सिद्धांतों का ही तार्किक दृष्टि से विवेचन और विश्लेषण किया गया है। इसी लिये दर्शन शास्त्रों की गणना वेदों के उपांगों में होती है।

यहाँ एक बात पर और विचार कर लेना चाहिये ईसाई पादरी ने वेदान्त दर्शन पर जो शंकायें 'समाचार दर्पण' में की थीं, वे सब नवीन वेदान्त के सिद्धांतों से सम्बद्ध थीं। उसके निम्न चार प्रश्न थे —

(१) ब्रह्म और माया दोनों को साथ साथ कैसे स्वीकार किया जा सकता है यदि माया का अस्तित्व मानें तो ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता और अद्वितीय सत्ता खण्डित होती है।

(२) यदि ईश्वर और जीव एक हो हैं तो ईश्वर जीव का कर्मफल

---

1 The Brahmunical Magazine No. 1 p. 158.

2. In the first number of the magazine I replied to the arguments they adduced against the sastras, or immediate explanations of the Vedas, our original sacred books." Preface to the Second edition. p. 147.

दाता कैसे हो सकता है ?

(३) इन सिद्धांतों के मानने से ईश्वर की पूर्णता कैसे स्थिर रह सकती है?

(४) (नवीन) वेदान्त में माया की सहायता से सृष्टि का जल के बुदबुदों की तरह उत्पन्न होना और नष्ट होना माना गया है। इससे ईश्वर "माया" का सहायतापेक्षी सिद्ध होता है।

प्रश्न काफी वजन दार है। राम मोहनराय ने इनका समाधान करने के लिये उन्हीं युक्तियों का आश्रय लिया है, जिन पर शंकर से लेकर आज तक के वेदान्ती निर्भर रहे हैं। यदि यही प्रश्न ऋषि दयानन्द के समक्ष आते तो निर्भीकता पूर्वक नवीन वेदान्त के मायावाद, जीव ब्रह्म एक्यवाद, और संसार मिथ्यावाद के सिद्धांतों की सत्यता को अस्वीकार कर देते और इसके स्थान पर वेदान्त के वास्तविक तात्तपर्य की प्रतिष्ठा करते। परन्तु यह बात राम मोहनराय के लिये लागू नहीं होती। वे जहाँ एकेश्वरवाद के प्रतिष्ठाता थे वहाँ साथ ही नवीन वेदान्त के मत को सिद्धांत रूप से स्वीकार भी करते थे। अतः उनके लिये नवीन वेदांत के माया, जीव ब्रह्म की एकता आदि सिद्धान्तों के समर्थन करने के अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं था। हाँ, उन्होंने वेदान्त के साथ ही न्याय,मीमांसा सांख्य और योग आदि दर्शनों पर किये गये आक्षेपों का भी समाधान किया, इसके लिये वे अवश्य प्रशंसा के पात्र हैं और यही वे शंकर रामानुज आदि मध्यकालीन आचार्यों से आगे बढ़ जाते हैं, जिन्होंने न्याय सांख्य आदि आस्तिक दर्शनों का खण्डन करने में ही अपने तथाकथित वेदान्त सिद्धान्त की प्रतिष्ठा समझी।

षट्दर्शन समन्वय विषयक पठनीय साहित्य।

(१) षट्दर्शनादर्श म० म० आर्यमुनिजी

(२) षट्दर्शन समन्वय—प० बुद्धदेवजी मीरपुरी

(३) षट्दर्शन समन्वय—स्वामी ओमानन्दजी तीर्थ

अध्याय ८

सर्व धर्म समभाव–

आज कल सर्व धर्म समभाव या सर्व धर्म समन्वय की एक नई हवा चली है। अकसर लोग यह कहते सुने जाते हैं कि सभी धर्म (उनका तात्पर्य मत-मतान्तरों से होता है) अच्छे हैं, खण्डन किसी का नहीं करना चाहिये। प्रत्येक में अच्छाई और बुराई विद्यमान रहती है। हमें अच्छी बातें ही ग्रहण करनी चाहिये, बुरी नहीं आदि। ऐसी बातें कहने वाले वास्तव में धर्म के तत्व से ही अनभिज्ञ होते हैं। वे समझते हैं कि धर्म एक नहीं अनेक हैं और सभी अच्छे हैं। यह भ्रम साधारण व्यक्तियों तक ही नहीं बड़े-बड़े महापुरुषों में भी व्यापक है। राममोहन-राय, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द और वर्तमान युग में महात्मा गांधी तक यही समझते थे कि सब धर्म अच्छे हैं और किसी का खण्डन ठीक नहीं।

ये सारी भ्रममूलक धारणायें वास्तविक धर्म और उसके स्वरूप को न समझने से उत्पन्न होती हैं। जो लोग धर्म का पर्याय मत, मजहब, पंथ Religion या Sect आदि समझते हैं वे वस्तुतः इस शब्द के अर्थ गौरव को नहीं समझते। यही कारण है कि वे धर्म के विषय में नाना प्रकार के भ्रान्त विचार प्रकट करते रहते हैं। धर्म संस्कृत भाषा का शब्द है जो 'धृ' धातु से निकला है। महाभारत में इसका अर्थ अत्यन्त सुन्दर रीति से प्रतिपादित किया गया है—"धारणाद्धर्म मित्याहुः, धर्मो धारयते प्रजाः" अर्थात् धारण करने से 'धर्म' शब्द की सिद्धि होती है, जो प्रजा को धारण करता है वह धर्म है। इस परिभाषा से सिद्ध हुआ कि धर्म का अर्थ बड़ा विस्तृत है और उसे किसी मत मतान्तर या सम्प्रदाय का समानार्थक समझना भूल होगी। वस्तुतः धर्म उन गुणों का समूह का नाम है जिसके कारण किसी वस्तु या पदार्थ की सत्ता

सुरक्षित रहती है।१ उदाहरण के लिये, यदि मनुष्य में मनुष्यता नहीं रहे तो वह मानव नहीं पशु हो जायगा। अब यह स्पष्ट हो गया कि 'धर्म' एक अत्यन्त उदात्त और महान् भाव रखने वाला शब्द है, जिसके वास्तविक अर्थों पर विचार और मनन करना आवश्यक है।

मत या सम्प्रदाय अन्य वस्तु है। इनका आधार कोई गुरु या पुस्तक होती है। उदाहरण के लिये बुद्ध के अनुयायी बौद्ध कहलायेंगे। इसी प्रकार यहूदी, पारसी, ईसाई, मुसलमान, जैन, सिक्ख आदि विभिन्न तम है। कबीरपंथ, दादूपंथ, रामानन्दी, श्री वैष्णव, वल्लभाचारी आदि पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय हैं, जिनके पृथक् आचार, व्यवहार और सिद्धान्त आदि होते हैं। मतमतान्तर और सम्प्रदाय आदि भी सर्वांश में मिथ्या नहीं होते। इनका एक अंश तो नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षाओं से सम्बद्ध होने के कारण सब में एक सा और अभिन्न होता है। वस्तुतः उनका यही अंग मानवधर्म का महत्वपूर्ण अंश होता है, जो सब मतों और सम्प्रदायों में समान रूप से पाया जाता है और जिसके कारण लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि सब मत और सम्प्रदाय एक से सत्य हैं। परन्तु इनका एक दूसरा महत्वपूर्ण अंश शेष रहता है। इसके अन्तर्गत बाह्याचार और आडम्बर की बातें रहती हैं। उदाहरण के लिये, यदि बौद्ध धर्म सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, इन्द्रियदमन, त्याग, वैराग्य और मन के वशीकरण का उपदेश देता है तो साथ ही उसके मानने वालों के लिये बुद्ध धर्म और संघ की शरण में जाना भी आवश्यक माना गया है। जो मनुष्य बुद्ध के सर्वोच्च आध्यात्मिक गुरु और बौद्ध मत तथा संघ के प्रति श्रद्धा के भाव नहीं रखता वह इस मत में कदापि दीक्षित नहीं हो सकता। इसी प्रकार ईसाई बनने के लिये ईसा के ईश्वरपुत्र होने एवं ईसाई त्रित्व में विश्वास करना आवश्यक है। मुसलमान वही कहला सकता है जो ईश्वर की एकता के अतिरिक्त

१ वस्तु स्वभावो धर्मः ऋषि दयानन्द

मुहम्मद को अन्तिम पैगम्बर भी मानता है। इन साम्प्रदायिक विश्वासों और इनसे सम्बद्ध आचारों की कोई सीमा नहीं है। ये साम्प्रदायिक आचार विचार ही इन मतों की परस्पर की पार्थक्य रेखा स्थापित करते हैं। यदि बुद्ध का अनुयायी होने और मुहम्मद का अनुयायी होने में कोई अन्तर नहीं होता, यदि ईसा और मूसा के अनुयायी परस्पर साथ साथ रह सकते; यदि भारत में शैव और वैष्णव, ब्राह्मण और बौद्ध की परस्पर पट जाती तो संसार के इतिहास में जो भयंकर रक्तपात और पाशविक अत्याचार के जो पृष्ठ हैं वे कभी लिखे ही नहीं जाते। अतः वास्तविक धर्म और मत या सम्प्रदाय के अर्थों को न समझ कर योंही सर्व धर्म समभाव या सहिष्णुता का राग अलापना संसार के साम्प्रदायिक मतों के इतिहास से अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना है।

राममोहनराय भी ऐसे ही तथाकथित सर्व-धर्म समभाव के समर्थक थे। यद्यपि वे हृदय से एकेश्वरवादी वैदिक धर्म के प्रवल अनुयायी, पक्ष-पोषक, और श्रद्धालु भक्त थे, परन्तु अन्य मतों के प्रति उनकी धारणाओं में कोई वैज्ञानिक या तार्किक संगति नहीं थी। ईसाई मत के अतिरिक्त उन्होंने किसी अन्य मत या सम्प्रदाय के प्रति अपने विचार विस्तार पूर्वक प्रकट नहीं किये थे, अतः यह जानना कठिन है कि अन्य मतों या सम्प्रदायों के प्रति उनकी धारणा क्या और कैसी थी? यहाँ हम एक लेखक का मत उद्धृत करते हैं—

"It has been said that Ram Mohan Roy delighted to pass for a believer in the Vedant with the Hindus, for a Christian among the adherants of that creed, and for a disciple of the Koran with the champions of Islamism." [1]

---

[1] The contemporary Evolution of Religious thought, by count Goblet d'Alviella. P 233 quoted in the English works of Raja Ram Mohan Roy Introduction.

अर्थात् यह कहा जाता है कि राममोहनराय हिन्दुओं में वेदान्ती, ईसाइयों में ईसाई और मुसलमानों में मुसलमान समझे जाते थे, और उन्हें ऐसा समझे जाने में प्रसन्नता होती था। इसका कारण यह था कि "राममोहनराय वेदों से हिन्दुओं को समझाते थे कि सिवाय एक परमात्मा के तुम और किसी की उपासना मत करो, साथ ही कुरान को लेकर वे मुसलमानों को उपदेश देते थे कि एक ब्रह्म की ही उपासना सर्वोच्च है।"१

राममोहनराय के इस आचरण पर हमारी दो शंकायें हो सकती हैं। प्रथम तो यह है कि जब वैदिक धर्म में परमात्मा के एक अद्वितीय स्वरूप की प्रतिष्ठा सम्यक् प्रकार से हुई है तो बाइबल और कुरान आदि साम्प्रदायिक पुस्तकों का ारा लेने की क्या आवश्यकता थी! इसका उचित समाधान भी हमें मिल जाता है। The English works of Raja Ram Mohan Roy के Introducton में सम्पादक ने इसका जो समाधान दिया है वह पर्याप्त सन्तोषजनक है। प्रथम पृष्ठ की पाद टिप्पणी में वे लिखते हैं—

"His habit, in his religious controversies with various sects, of taking his stand not merely upon pure reason but mainly upon their scriptures led some people to think that he was all things to all men. This, of course, is a mistake. His controversial method was meant to convince the followers of different faiths that even their scriptures, which they professed implicity to follow, enjoined the worship of the one true God." 2

अर्थात् अन्य सम्प्रदायों से शास्त्रार्थ करते समय राममोहनराय केवल तर्क का ही सहारा नहीं लेकर उन सम्प्रदायों के शास्त्रों के प्रमाण

१ राजा राममोहनराय ले० शिवनारायण द्विवेदी पृ० ५
2 Introduction P. viii Footnote.

भी प्रस्तुत करते थे। इससे कई लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि राममोहनराय सब सम्प्रदायों को सत्य मानते थे। परन्तु यह समझना भूल है। उनका अन्य साम्प्रदायिक शास्त्रों के प्रमाण देने का उद्देश्य उन उन सम्प्रदायों के अनुयायियों को यह विश्वास दिलाने के लिये था कि जिन शास्त्रों में वे अक्षरशः विश्वास करते हैं और मानते हैं, वे भी केवल एक ईश्वर की पूजा का ही विधान करते हैं। सम्पादक महोदय इससे जो निष्कर्ष निकालते हैं वह एक सीमा तक उचित ही है और वह यह है कि राममोहनराय उष्ट्र लष्टिका न्याय[1] के प्रयोग से अन्य मतों के शास्त्रों से भी स्वमत की ही पुष्टि करते थे। उन साम्प्रदायिक ग्रन्थों की अन्य बातों में कोई श्रद्धा नहीं थी।

इसी बात को और भी स्पष्ट करने के लिये तथा राममोहनराय को साम्प्रदायिक संकीर्णता से पृथक सिद्ध करने के लिये उक्त सम्पादक लिखते हैं—

"He did not reject any truth to be found in any scripture or in the teachings of any prophet or saint, he revered and accepted truth from all quarters, but at the same time he did not accept any book or teacher as infallible."[2]

अर्थात् किसी शास्त्र या किसी पैगम्बर और सन्त के उपदेशों में पाई जाने वाली सत्यता को उन्होंने अस्वीकार नहीं किया, उसने सब स्रोतों से जन्म लेने वाले सत्य का आदर पूर्वक स्वागत किया, परन्तु

---

१ उष्ट्र लष्टिका का न्याय यह है कि एक ऊंट पर बहुत सी लाठियाँ लदी थीं। हांकने वाले ने उनमें से एक निकाल कर ऊंट को मारी, फिर उसी पर रख दी। इसी प्रकार अन्य मत वालों के शास्त्रों से ही उनका खण्डन और स्वमत पोषण करना उष्ट्र लष्टिका न्याय कहलाता है।

2 Introduction P xiv.

साथ ही उन्होंने किसी भी पुस्तक या गुरु को निर्भ्रान्त भी नहीं स्वीकार किया। राममोहनराय की इस स्थिति में कोई विशेषता नहीं है। स्वामी दयानन्द ने भी सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में लिखा है—"जैसा मैं पुराण, जैनियों के ग्रन्थ, बायबिल और कुरान को प्रथम ही बुरी दृष्टि से न देख कर उनमें से गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग तथा अन्य मनुष्य जाति की उन्नति के लिये प्रयत्न करता हूँ, वैसा सब को करना योग्यहै।१

हमारी आपत्ति दूसरी प्रकार की है। स्वामी दयानन्द भी यह जानते थे और प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि पुराण, तंत्र, बाइबल, कुरान आदि साम्प्रदायिक ग्रन्थों में ईश्वर की सत्ता का किसी न किसी रूप में प्रतिपादन अवश्य है। परन्तु क्या उससे ईश्वर का यथार्थ स्वरूप हमारे समक्ष आता है। सम्भवतः नहीं इसका कारण यह है कि साम्प्रदायिकता के दोष से दूषित होने के कारण इन ग्रन्थों में अनेक ऐसी बातें मिल गई हैं जिनकी विद्यमानता में कोई भी व्यक्ति इन ग्रन्थों को पढ़कर विशुद्ध ईश्वरवाद की शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता। पुराण और तंत्रों में तो विभिन्न देवताओं का स्पष्ट उल्लेख है ही, साथ ही शिव, विष्णु, भगवती आदि देवी देवताओं का पृथक् पृथक् माहात्म्य स्थापित करने में ये ग्रन्थकार इतने तल्लीन हो गये हैं कि उससे ईश्वरवाद की स्थापना के लिये कोई सम्भावना ही बच नहीं रहती।

बाइबल में ईश्वर के साथ साथ पवित्र आत्मा और पिता तथा पुत्र की त्रिविध सत्ता में विश्वास करने का पुछल्ला जोड़ दिया गया है। इसी प्रकार कुरान में पैगम्बरवाद की प्रतिष्ठा हुई है। कोई व्यक्ति बिना पैगम्बर पर विश्वास लाये ईश्वर प्राप्ति नहीं कर सकता। अतः यह स्पष्ट है कि इन साम्प्रदायिक ग्रन्थों से एक ईश्वर की सत्ता और उसी की उपासना का विधान सिद्ध करना मृग मरीचिका के तुल्य है। स्वामी दयानन्द के सामने जब यह परिस्थिति आई तो उन्होंने दृढ़ता और आत्म विश्वास पूर्वक यह सिद्ध कर दिया कि उन ग्रन्थों में ईश्वर

का वास्तविक स्वरूप खोजना बालू में से तेल निकालने के तुल्य है। वैदिक शास्त्र ही परमात्मा की एक अद्वितीय और अखण्ड सत्ता का प्रतिपादन करते हैं, जो युक्ति सिद्ध और अनुभव सिद्ध होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति के लिये प्रामाणिक है। इससे किसी पैगम्बर या अवतार या उसके अनुयायियों के कष्ट होने की परवाह ऋषि को नहीं थी। सत्य कहने में चाहे जो बाधा आवे उसका सामना करने के लिये वे तैयार थे क्यों कि उनका विश्वास था कि वे प्रत्येक मनुष्य के हितकारी धर्म का आचरण कर रहे हैं।

स्वामी दयानन्द ने सर्व-धर्म समभाव के वास्तविक अभिप्राय को सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास के अन्त में समझाया है। उन्होंने पूर्वपक्ष स्थापित करने के अनन्तर उत्तर पक्ष में मनुष्य मात्र के धर्म और अधर्म की एकता, वास्तविक धर्म तथा बाह्याचारों की पृथकता आदि पर अत्यन्त विशद विचार किया है, जो इस प्रसंग में द्रष्टव्य है।

"प्रश्न—आप सब का खण्डन करते ही आये हो, परन्तु अपने अपने धर्म में सब अच्छे हैं। खण्डन किसी का न करना चाहिये।

उत्तर—धर्म सब का एक होता है वा अनेक? जो कहो, अनेक होते हैं तो एक दूसरे के विरुद्ध होते हैं वा अविरुद्ध? जो कहो कि विरुद्ध होते हैं तो एक के बिना दूसरा धर्म नहीं हो सकता और जो कहो अविरुद्ध हैं तो पृथक् पृथक् होना व्यर्थ है। इस लिये धर्म और अधर्म एक ही हैं, अनेक नहीं।"[१]

इस महत्व पूर्ण विषय को रोचक और सहजग्राह्य, बनाने के लिये महर्षि ने इसे संवाद रूप में लिखा है। इसका निम्न अंश अत्यन्त महत्व पूर्ण है। इससे जहाँ धर्म के मूल तत्वों की एकता का ज्ञान होता है, वहाँ यह भी जाना जाता है कि साम्प्रदायिक लोगों के द्वारा बाह्यचारों को छोड़ने में कौनसी बाधायें आती हैं।

---

१ सत्यार्थप्रकाश—एकादश समुल्लास

साथ ही उन्होंने किसी भी पुस्तक या गुरु को निर्भ्रान्त भी नहीं स्वीकार किया। राममोहनराय की इस स्थिति में कोई विशेषता नहीं है। स्वामी दयानन्द ने भी सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में लिखा है–"जैसा मैं पुराण, जैनियों के ग्रन्थ, बायबिल और कुरान को प्रथम ही बुरी दृष्टि से न देख कर उनमें से गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग तथा अन्य मनुष्य जाति की उन्नति के लिये प्रयत्न करता हूँ, वैसा सब को करना योग्यहै।१

हमारी आपत्ति दूसरी प्रकार की है। स्वामी दयानन्द भी यह जानते थे और प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि पुराण, तंत्र, बाइबल, कुरान आदि साम्प्रदायिक ग्रन्थों में ईश्वर की सत्ता का किसी न किसी रूप में प्रतिपादन अवश्य है। परन्तु क्या उससे ईश्वर का यथार्थ स्वरूप हमारे समक्ष आता है। सम्भवतः नहीं. इसका कारण यह है कि साम्प्रदायिकता के दोष से दूषित होने के कारण इन ग्रन्थों में अनेक ऐसी बातें मिल गई हैं जिनकी विद्यमानता में कोई भी व्यक्ति इन ग्रन्थों को पढ़कर विशुद्ध ईश्वरवाद की शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता। पुराण और तंत्रों में तो विभिन्न देवताओं का स्पष्ट उल्लेख है ही, साथ ही शिव, विष्णु, भगवती आदि देवी देवताओं का पृथक् पृथक् माहात्म्य स्थापित करने में ये ग्रन्थकार इतने तल्लीन हो गये हैं कि उससे ईश्वरवाद की स्थापना के लिये कोई सम्भावना ही बच नहीं रहती।

बाइबल में ईश्वर के साथ साथ पवित्र आत्मा और पिता तथा पुत्र की त्रिविध सत्ता में विश्वास करने का पुछल्ला जोड़ दिया गया है। इसी प्रकार कुरान में पैगम्बरवाद की प्रतिष्ठा हुई है। कोई व्यक्ति बिना पैगम्बर पर विश्वास लाये ईश्वर प्राप्ति नहीं कर सकता। अतः यह स्पष्ट है कि इन साम्प्रदायिक ग्रन्थों से एक ईश्वर की सत्ता और उसी की उपासना का विधान सिद्ध करना मृग मरीचिका के तुल्य है। स्वामी दयानन्द के सामने जब यह परिस्थिति आई तो उन्होंने दृढ़ता और आत्म विश्वास पूर्वक यह सिद्ध कर दिया कि उन ग्रन्थों में ईश्वर

का वास्तविक स्वरूप खोजना बालू में से तेल निकालने के तुल्य है। वैदिक शास्त्र ही परमात्मा की एक अद्वितीय और अखण्ड सत्ता का प्रतिपादन करते हैं, जो युक्ति सिद्ध और अनुभव सिद्ध होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति के लिये प्रामाणिक है। इससे किसी पैगम्बर या अवतार या उसके अनुयायियों के कष्ट होने की परवाह ऋषि को नहीं थी। सत्य कहने में चाहे जो बाधा आवे उसका सामना करने के लिये वे तैयार थे क्यों कि उनका विश्वास था कि वे प्रत्येक मनुष्य के हितकारी धर्म का आचरण कर रहे हैं।

स्वामी दयानन्द ने सर्व-धर्म समभाव के वास्तविक अभिप्राय को सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास के अन्त में समझाया है। उन्होंने पूर्वपक्ष स्थापित करने के अनन्तर उत्तर पक्ष में मनुष्य मात्र के धर्म और अधर्म की एकता, वास्तविक धर्म तथा बाह्याचारों की पृथकता आदि पर अत्यन्त विशद विचार किया है, जो इस प्रसंग में द्रष्टव्य है।

"प्रश्न — आप सब का खण्डन करते ही आये हो, परन्तु अपने अपने धर्म में सब अच्छे हैं। खण्डन किसी का न करना चाहिये।

उत्तर — धर्म सब का एक होता है वा अनेक ? जो कहो, अनेक होते हैं तो एक दूसरे के विरुद्ध होते हैं वा अविरुद्ध ? जो कहो कि विरुद्ध होते हैं तो एक के बिना दूसरा धर्म नहीं हो सकता और जो कहो अविरुद्ध हैं तो पृथक् पृथक् होना व्यर्थ है। इस लिये धर्म और अधर्म एक ही हैं, अनेक नहीं।"[1]

इस महत्व पूर्ण विषय को रोचक और सहजग्राह्य, बनाने के लिये महर्षि ने इसे संवाद रूप में लिखा है। इसका निम्न अंश अत्यन्त महत्व पूर्ण है। इससे जहाँ धर्म के मूल तत्वों की एकता का ज्ञान होता है, वहाँ यह भी जाना जाता है कि साम्प्रदायिक लोगों के द्वारा बाह्यचारों को छोड़ने में कौनसी बाधायें आती हैं।

---

१ सत्यार्थप्रकाश—एकादश समुल्लास

"आप्त—देख, जिस बात में ये सहस्र (सम्प्रदाय) एक मत हों, वह वेद मत ग्राह्य है और जिसमें परस्पर विरोध हो, वह कल्पित, झूठा, अधर्म और अग्राह्य है।........तब वह (जिज्ञासु) उन सहस्रों की मण्डली के बीच में खड़ा होकर बोला कि सुनो, सब लोगों, सत्यभाषण में धर्म है वा मिथ्या में ? सब एक स्वर होकर बोले कि सत्य भाषण में धर्म और असत्य भाषण में अधर्म है। वैसे ही विद्या पढ़ने, ब्रह्मचर्य करने, पूर्ण युवावस्था में विवाह, सत्संग, पुरुषार्थ, सत्य व्यवहार आदि में धर्म और अविद्या ग्रहण, ब्रह्मचर्य न करने, व्यभिचार करने, कुसंग, आलस्य, असत्य व्यवहार, छल, कपट, हिंसा, पर हानि करने आदि कर्मों में ? सब ने एक मत होके कहा कि विद्यादि के ग्रहण में धर्म और अविद्यादि के ग्रहण में अधर्म। तब जिज्ञासु ने सब से कहा कि तुम इसी प्रकार सब जने एक मत हो सत्य धर्म की उन्नति और मिथ्या मार्ग की हानि क्यों नहीं करते हो ? वे सब बोले, जो हम ऐसा करें तो हमको कौन पूछे ?"१

महर्षि दयानन्द के जीवन में भी एक ऐसी घटना आती है, जिससे हमें यही शिक्षा मिलती है। दानापुर में महर्षि और एक यूरोपियन सज्जन मि० जोन्स के बीच निम्न वार्तालाप हुआ।

स्वामीजी—देखिये, ईश्वर की बनाई हुई जितनी वस्तुयें सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, मेघ, वायु आदि हैं वह सब मनुष्यों के लिये समान हैं ऐसे ही ईश्वरीय धर्म भी सब के लिये समान होना चाहिये या नहीं ?

जोन्स—अवश्य, सब के लिये समान होना चाहिये।

स्वामीजी—कल्पना कीजिये कि सब धर्मों का जो संख्या में एक सहस्र हैं, एक मेला लगा हुआ है, जिसमें हर एक धर्म के उपदेष्टा अपने अपने धर्म का सच्चा और मुक्ति दिलाने वाला बताते हैं और दूसरे ९९९ धर्मों को झूठा कहते हैं। अब आप बतायें कि कौनसा धर्म सच्चा है ?

---

१ सत्यार्थप्रकाश—एकादश समुल्लास

जोन्स—न्याय के अनुसार तो सभी झूठ हैं।

स्वामीजी—परन्तु सब सर्वथा झूठ नहीं हो सकते। हरएक में कुछ न कुछ सच्चाई अवश्य है। अब कल्पना कीजिये कि एक जिज्ञासु उस मेले में आता है और वह हर एक सम्प्रदाय के उपदेशक के पास जाकर प्रश्न करता है कि सत्य बोलना, चोरी न करना, दया करना अच्छा है या झूठ बोलना, चोरी करना, अत्याचार करना, तो सब एक मत होकर कहते हैं कि सत्य बोलना आदि अच्छे हैं और झूठ बोलना आदि बुरे हैं। अतः वह जिज्ञासु इसी प्रकार उन सब बातों को, जिनमें सबका एक मत है, एकत्र कर लेता है और उन्हीं बातों को वह सत्य धर्म मानता है। वही धर्म ईश्वरीय धर्म है। इस धर्म में कहीं ऐसा नहीं है कि मुहम्मद का आश्रय लिये बिना या ईसा पर विश्वास किये बिना मोक्ष नहीं मिल सकता।"[१]

इसी मानव धर्म की व्याख्या और विवेचना महर्षि के ग्रन्थों में सर्वत्र उपलब्ध होती है। सर्व-धर्म समन्वय का यदि यही अर्थ लिया जाय तो कोई अनुचित नहीं है। सत्य अहिंसा, अस्तेय, आदि की प्रशंसा सब करते हैं क्योंकि ये धर्म के शाश्वत अंग हैं। बाह्याचार धर्म का अंग नहीं क्योंकि ये सब मत वालों के भिन्न-भिन्न हैं। स्वामी दयानन्द ने इसी धर्म तत्व का साक्षात्कार किया था। उन्होंने जब मतमतान्तरों की इन परस्पर विरोध करने वाली बातों का खण्डन किया तो पक्षपाती लोग कहने लगे कि महाराज हमारे धर्म का खण्डन करते हैं, परन्तु स्वयं स्वामीजी जानते थे कि जिस बात का वे खण्डन कर रहे हैं वह धर्म के मूल सिद्धान्तों का खण्डन नहीं है, बल्कि उसके अनावश्यक भाग (Separable accident) का खण्डन है। राम मोहन राय मतमतान्तरों की समीक्षा में उतनी तेजस्विता और प्रकर्षता नहीं दिखा सके जो स्वामी दयानन्द ने दिखाई। उसका कारण यह था कि वास्तविक धर्म और उसके मूल तत्वों को मतमतान्तरों और उनके बाह्याडम्बरों से पृथक करने का कार्य कठिन था। राम मोहनराय से यह सम्भव नहीं हो सका।

---

१ महर्षि दयानन्द का जीवन चरित भाग २ पृ० २१८। ले० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर द्वितीय संस्करण।

नवां अध्याय

ईसाई आक्रमणों का प्रत्युत्तर

उन्नीसवीं शताब्दी के सुधारकों का एक प्रमुख कार्य यह भी था कि ईसाई आक्रमणों से हिन्दू जाति की रक्षा की जाय। राम मोहनराय और दयानन्द दोनों ने ही इस क्षेत्र में अद्भुत कार्य किया। राम मोहनराय ने ईसाई मत का विशेष रूप से अध्ययन किया और पादरियों से अनेक लिखित शास्त्रार्थ किये। उन्होंने ईसाइयों की कार्य शैली और प्रचार विधि का अत्यन्त सूक्ष्मता से अध्ययन किया था। उन्होंने अपनी Brahmuical Magazine की भूमिका में बताया है कि ईसाई प्रचारक छोटी-छोटी पुस्तकें प्रकाशित करते हैं जिनमें हिन्दू-धर्म के मान्य देवताओं और महापुरुषों का मज़ाक उड़ाया जाता है। इसके अतिरिक्त वे बाजारों और सड़कों पर खड़े होकर हिन्दू धर्म के विरुद्ध व्याख्यान देते हैं और यदि कोई निम्न जाति का व्यक्ति लोभ या स्वार्थवश ईसाई बन जाता है तो पादरी लोग उसके लिये जीविका के साधन जुटा देते हैं ताकि उसके उदाहरण को देख कर अन्य लोगों को भी ईसाई बनने की प्रेरणा मिले।१

राम मोहनराय ईसाई मत के प्रचार को रोकने के इच्छुक थे। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि ईसाई लोग भोले-भाले हिन्दुओं को बहकाना छोड़ दें और उनको स्वधर्म से विमुख न करें। इसके लिये वे सब प्रकार के उपाय काम में लाने को तैयार थे। उन्होंने ईसाई प्रचारकों से अत्यन्त नम्रता पूर्वक प्रार्थना भी की कि भारतवर्ष जैसे देश में जो, पहले से ही गुलाम है, उनका प्रचार कार्य शोभा नहीं देता। वे लिखते हैं—

Were the missionaries likewise to preach the Gospel and distribute books in countries not conquored by the English, such as Turkey and Persia, which are much nearer England, they would beesteemed a body af men truely zealous in propagating

---

१ Preface to the First Edition p. 145.

religion and in following the example of the founders of christianity. In Bengal, where the English are the sole rulers, and where the merename of English man if sufficient to frighten people, an encroachment upon the rights of her poor timed and humble in habitants and upon their religion, can not be viewed in the eyes of God or the Public as a justifible act."1

अर्थात् क्या ही अच्छा होता यदि ये मिश्नरी महानुभाव टर्की और ईरान आदि देशों में जाकर ईसा के उपदेशों का प्रचार करते और अपनी पुस्तकें बाँटते, क्योंकि ये देश इङ्गलैण्ड के अधिक निकट भी हैं और वहाँ इनके कार्य की प्रशंसा भी होती। परन्तु बंगाल में, जो अंग्रेजों के पूर्णतया आधीन है, और जहाँ किसी अंग्रेज का नाम ही लोगों को डरा देने के लिये पर्याप्त है, यहाँ के गरीब और दीन निवासियों के धर्म और अधिकारों पर हमला करना अनुचित है।

राम मोहनराय की यह निश्चित धारणा थी कि भारत में ईसाई मत के प्रचार की आवश्यकता नहीं है रेवरेण्ड हेनरी बेयर के पूछने पर उन्होंने "भारत में ईसाइयत का भविष्य"१ नामक प्रश्नोत्तर माला तैयार की थी। उसमें उन्होंने एक प्रश्न का उत्तर देते हुए बताया है कि भारत में ईसाइयत का प्रचार और धर्म परिवर्तन का कार्य सम्भव नहीं है। एक पुराने पादरी एवं डुबोइस के शब्दों का प्रयोग करते हुए राम मोहनराय लिखते हैं--

"It is my decided opinion, that under existing circum-stances there is no human possibility of converting the Hindoos to any sect of Christianity; and that the taanslation of the Holy Scriptures circulated among them. so far from conducing to this end, will on the contrary, increase the prejudices of the natives

---

1 Ibid p. 145.

१ The Prospectus of Christianity in India.

against the Christian religion, and prove in many respects, detrimental to it."[1]

अर्थात् यह मेरी निश्चित धारणा है, कि वर्तमान परिस्थितियों में हिन्दुओं के ईसाई मत ग्रहण करने की कोई सम्भावना नहीं है और ईसाई धर्म शास्त्रों का अनुवाद भी उनमें ईसाई मत के प्रति पूर्वाग्रहों की वृद्धि करेगा और बातों में हानिकारक ही होगा।

इसी प्रसंग में राम मोहनराय ने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि भारत में कोई उच्च वर्ग का हिन्दू ईसाई मत की ओर कभी आकृष्ट नहीं हो सकता। केवल निम्न वर्ग के लोग ही जो आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त गिरी हुई दशा में हैं, ईसाई मत की ओर आकर्षित हो सकते हैं क्योंकि वे यह जानते हैं कि ईसाई बनने पर उनकी बहुत कुछ कठिनाइयाँ समाप्त हो जायेंगी। अन्यथा आध्यात्मिक और सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से वे ईसाई धर्म में कोई आकर्षण नहीं पाते। इस प्रश्न के उत्तर में कि क्या कारण है जो भारत के निवासी ईसाई मत को ग्रहण करने में इतनी व्यग्रता नहीं दिखाते, राममोहन राय ने स्पष्ट कर दिया है--

"The doctines which the missonaries maintain and preach are less conformable with rerson than those professed by Mosulmans, and in several points are equally absurved with the popular Hindoo creed. Hence there is no rational inducement for either of these tribes to lay aside their respective doctrines, and adopt those held up by the generality of Christians."[1]

अर्थात् जिन सिद्धान्तों का प्रचार ईसाई पादरी करते हैं, वे तर्क की दृष्टि से तो मुसलमानी सिद्धान्तों से भी हेय हैं और कई बातों में प्रचलित हिन्दू विश्वासों की तरह ही मूर्खतापूर्ण हैं। इसलिये हिन्दू और मुसलमान कोई

---

1 The prospectus of Christianity in India, p. 877-878

1 Ibid. p. 881.

भी युक्ति की दृष्टि से ईसाई मत से प्रभावित नहीं होता और न ईसाई मत को स्वीकार ही करता है।

श्रीरामपुर के पादरियों ने जब हिन्दू धर्म के शास्त्रों और सिद्धान्तों पर आक्षेप किये तो राम मोहनराय ने 'शिवप्रसाद शर्मा' के नाम से इनका उत्तर दिया।[1] इस विवाद से अनेक बातें स्पष्ट हो गईं। राम मोहनराय ने जहाँ हिन्दू धर्म के शास्त्रों और सिद्धान्तों पर की जाने वाली शंकाओं का युक्ति-पूर्वक समाधान किया, वहाँ उन्होंने साथ ही साथ ईसाई मत की मिथ्या बातों से भी जनसाधारण को परिचित करा दिया। उन्होंने ईसाई पादरी से पूछा कि आप एक ओर तो पुराणों पर आक्षेप करने के लिये तैयार हो जाते हैं और कहते हैं कि पुराणों में ईश्वर को अनेक रूप और आकृतियाँ धारण करने वाला बताया गया है उसके स्त्री है, बच्चे हैं, वह शरीर धारण कर कर्म करता है और इच्छाओं के वश में है आदि। परन्तु क्या कभी आपने अपने शास्त्रों का भी विचार किया है जिनमें ईसा को ईश्वर मानते हुए शरीर धारी प्रतिपादित किया है तथा पवित्र आत्मा (Holy Ghost) को फाख्ता की शक्ल का बताया है। क्या यह ईश्वर को शरीरधारी कहना नहीं है? यदि यह सत्य है तो आप में और पौराणिकों में अन्तर ही क्या है?

इस प्रसंग में राम मोहनराय ने ईसाइयों पर दस आक्षेप किये और कहा कि इन असंगतियों के रहते ईसाई मत पौराणिक मत से किसी प्रकार भी श्रेष्ठ नहीं हो सकता। राम मोहनराय के दस प्रश्न ये हैं :—

(१) क्या ईसा को ईश्वर मानते हुए ईसाई यह दावा कर सकते हैं कि वह अपनी इन्द्रियों से कार्य नहीं करता था अथवा उसमें मानव सुलभ विकार आदि नहीं थे?

(२) उसके मन में कभी क्रोध उत्पन्न नहीं हुआ?

(३) क्या कभी उसने दुख और कष्ट को अनुभव नहीं किया?

---

1 The Brahmunical Magazine or the missionary and the Brahmun being avindication of the Hindoo Religion against the attacks of christian- missionaries. Calcutta 1821.

(४) क्या वह खाता पीता नहीं था ?

(५) क्या वह अपनी माता, भाइयों और सम्बन्धियों के साथ बहुत काल तक जीवित नहीं रहा ?

(६) क्या उसका जन्म नहीं हुआ था ?

(७) क्या वह मरा नहीं था ?

(८) क्या पवित्र आत्मा जो स्वयं ईश्वर है, फाख्ता के रूप में एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं भटकता था ?

(९) क्या पवित्र आत्मा ने मरियम से गर्भाधान कर ईसा को उत्पन्न नहीं किया ?

(१०) यदि इन प्रश्नों के उत्तर ईसाई लोग 'हाँ' में देते हैं और उन्हें तो देने ही पड़ेंगे क्योंकि बाइबल में ये सब बातें मौजूद हैं, तो वे पुराणों में क्या दोष निकाल सकते हैं ? यदि वे यह कहें कि ईश्वर सर्व शक्तिमान् है और वह सब कुछ कर सकता है तो पौराणिक लोग भी अपने अवतारों के समर्थन में यही उत्तर देंगे।१

इस विवाद के बढ़ने पर "समाचार दर्पण" के ईसाई सम्पादक ने पवित्र आत्मा के कमेड़ी के रूप में आने का समर्थन किया। इस पर राम मोहनराय ने Brahmunical Magazine No. 3 में यह टिप्पणी लिखी—

"I wonder, how, after such acknowledgment the Editor can ridicule the idea of God's appearing in the shape of a fish or cow, which is entertained by the Pauranika Hindoos."1

अर्थात् पवित्र आत्मा का फाख्ता का रूप धारण करने की बात स्वीकार करने के पश्चात् ईसाई सम्पादक पौराणिक हिन्दुओं की इस धारणा का कैसे उपहास कर सकता है। कि ईश्वर ने मछली या गाय का रूप धारण किया।

---

१ The Brahmunical Magazine No. 2 p. 163.
विस्तृत आलोचना के लिये देखिये-राम मोहनराय, केशवचन्द्र सेन, ——— ले० पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय।

1 p. 172.

स्वामी दयानन्द ने भी सत्यार्थप्रकाश के १३ वें समुल्लास में ईसाई मत की समीक्षा की है। उसमें उन्होंने बाइबल की मुख्य-मुख्य आयतों की आलोचना में यह स्पष्ट कर दिया है कि ईसाई मत की शिक्षायें अन्धविश्वास से पूर्ण हैं और उनसे मानव-जाति के नैतिक और आध्यात्मिक अभ्युत्थान की कोई सम्भावना नहीं है। इस समुल्लास की ६८ वीं समीक्षा में स्वामीजी ने जो बातें लिखी हैं वे रामगोहनराय के उपर्युक्त तर्कों से पूर्णतया समानता रखती हैं। स्वामीजी के कथन का भी यही भाव है कि यदि पुराणों की गप्पों को मिथ्या माना जाता है तो कोई कारण नहीं है कि बाइबल की ऊटपटांग, युक्त और तर्क विरुद्ध गाथाओं को भी इस कोटि की क्यों न समझा जाय? वे लिखते हैं—"ये सब बातें भोले मनुष्यों को फँसाने की हैं क्योंकि जब ईसाई लोग इन विद्या, सृष्टिकर्म विरुद्ध बातों को सत्य मानते हैं तो शुक्राचार्य, धनवन्तरि, कश्यप आदि की कथाओं को मिथ्या क्यों कहते हैं? जो उक्त बातें मिथ्या हैं तो ईसा की बात मिथ्या क्यों नहीं, जो दूसरे की को मिथ्या और अपनी झूटी को सच्ची कहते हैं तो हठी क्यों नहीं?"१

यहाँ तक तो ईसाई मत के प्रचार की समस्या पर राम मोहनराय और स्वामी दयानन्द एकमत हैं। परन्तु आगे चलकर उनके दृष्टिकोण में अन्तर उपस्थित हो जाता है। यद्यपि राम मोहनराय की प्राचीन आर्य धर्म के प्रति दृढ़ आस्था थी परन्तु ईसाई मत का कुछ उनपर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे ईसाई मत और उसकी शिक्षाओं के बड़े भारी प्रशंसक बन गये। स्वामी दयानन्द की तो केवल वैदिक धर्म के प्रति ही अटूट निष्ठा थी उनका ईसाई आदि मतों से प्रभावित होना असम्भव ही था क्योंकि वे उसकी त्रुटियों और असंगतियों से पूर्णतया अवगत थे। जो व्यक्ति धर्म का मौलिक रहस्य जानता है वह मत मतान्तरों के चक्कर में कदापि नहीं पड़ सकता। राम मोहनराय ने ईसा और उसके उपदेशों के प्रति जो श्रद्धा युक्त भाव प्रकट किये उनका क्या परिणाम हुआ और ब्रह्म समाज की विचारधारा को उसने किस प्रकार प्रभावित किया यह हम अगले अध्यायों में देखेंगे।

दसवां अध्याय

ईसा के उपदेशों के प्रति धारणा

जैसा कि हम गत अध्याय में संकेत कर चुके हैं राम मोहन राय को ईसाई मत ने बहुत प्रभावित किया था। ईसाई मत का अध्ययन करने के लिये राममोहन राय को ग्रीक और हिब्रू भाषा में बाइबिल पढ़नी पढ़ी। इस अध्ययन का परिणाम यह हुआ कि राममोहन राय को बाइबिल की शिक्षायें अत्यन्त उदात्त और महत्वपूर्ण प्रतीत होने लगीं। उनकी यह भी धारणा बन गई कि मूल बाइबिल में ईसा को दैवी शक्ति सम्पन्न पुरुष नहीं माना गया है और न उसे ईश्वर पुत्र ही घोषित किया गया है। इसी प्रकार त्रित्व का सिद्धांत (Triuity) भी मूल बाइबिल के प्रतिकूल है, यह राममोहन राय का विश्वास था। जे.एन. फर्कुहर ने राममोहन राय के ईसाई मत सम्बन्धी विश्वास को निम्न शब्दों में प्रकट किया है—

"His position is that Christ was a theist like himself, that his desciples misunderstood him and that the whole edifice of Chaistology is a huge mistake".1

अर्थात् राममोहन राय का यह विश्वास था कि ईसा भी उनकी तरह ही एक ईश्वर को मानने वाले थे। उसके शिष्यों ने उसको गलत समझा और ईसा सम्बन्धी समस्त अलौकिक विश्वास मिथ्या है।"

राममोहन राय की इस धारणा का तो ईसाई लोगों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा और न वे उनके विचारों से कभी सहमत ही हुये। इसके विपरीत श्रीराम पुर से प्रकाशित होने वाले Friend of India नामक पत्र में मार्समैन नामक पादरी ने उनके विचारों की कटु आलोचना की और कहा कि राममोहन राय ईसाई सिद्धाँतों के साथ घोर अन्याय कर रहे हैं। राममोहन की विजय तो तब समझी जाती जब उनकी नई गवेषणाओं और युक्तिपूर्ण धारणाओं का ईसाई समाज में सम्मान हुआ होता। परन्तु हम

1 Modern Religions Movement in India p. 32.

आज भी देखते हैं कि ईसाई मत में त्रित्ववाद और ईसा के दैवी शक्ति सम्पन्न पुरुष होने का सिद्धाँत उतनी ही श्रद्धा से माना जाता है जितना राममोहनराय के समय में माना जाता था। अतः हमारी यह धारणा और भी दृढ़ हो जाती है कि ईसाई मत की ओर आकर्षित होकर राममोहनराय ने अपनी ही स्थिति को हानि पहुँचाई। कहावत प्रसिद्ध है—"सीख ताको दीजिए जाको सीख सुहाय।" ईसाइयों ने राम मोहनराय के गम्भीर स्वाध्याय और अनुसंधान का लाभ तो नहीं कुछ उठाया, इसके विपरीत उनके सम्बन्ध में यह धारणा बनाली कि राममोहन राय ईसाई मत से बड़े भारी प्रभावित हुये हैं और उन्होंने अपने ब्राह्म समाज में ईसाई विश्वासों को प्रविष्ट कर दिया है। जैसा कि जे-एन. फर्कुहर ने अपनी पुस्तक में लिखा है—

"The forces which proved creative in him were unquestionably Cristirnity and the influence of the west in general."

अर्थात् जिन शक्तियों ने राममोहन राय को विशेष क्रियाशील बनाया वे ईसाईमत और पाश्चात् प्रभाव की हैं। इस कथन में पर्याप्त तथ्य है कि ईसाई मत के विषय में राममोहन राय की धारणायें धीरे धीरे अत्यन्त प्रशंसा पूर्ण और आदरस्पद बन गई जैसा कि आगे दिये जाने वाले प्रमाणों से ज्ञात होता है।

सर्वप्रथम राममोहन राय ने ईसा के उपदेशों का एक संग्रह२ प्रकाशित कराया जो कलकत्ते के वैपटिष्ट मिशन प्रेस द्वारा १८२० ई. में प्रकाशित हुआ। ईसाई पादरियों के द्वारा इसका विरोध होने पर उन्होंने अपनी धारणाओं के स्पष्टीकरण के लिये तीन अपीलें प्रकाशित कीं जो प्रथम,

---

1 Modern Religions Movements in India p. 16.

२ The precepts of Jesus the guide to peace and happiness expracted from the books of the New Testament, ascribed to the four Evangelists. Calcutta. 1820.

1 Second Appeal to the Christ Public p. 675.

द्वितीय और अन्तिम अपील के नाम से प्रसिद्ध हैं। द्वितीय अपील के अन्त में राममोहनराय लिखते हैं—

"I am however, most firmly convinced, that Cristianity is entirly free from every trace of poly theism, whether gross or refiend, I therefor enjoy the approhation of my conscience in publishing the precepts of this religion as the sources of peace and happiness.1"

अर्थात् मुझे इस बात का दृढ़ निश्चय है कि ईसाई धर्म बहुदेवतावाद से पूर्णतः मुक्त है। इसलिये मैं इस मत के सिद्धांतों के प्रकाशन में प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ जो कि शान्ति और आनन्द के साधक हैं। जिस व्यक्ति ने ईसाई पादरियों द्वारा किये जाने वाले हिन्दू धर्म के प्रति आक्षेपों का उत्तर देते समय बाइबिल से ही ईसाई मत को त्रित्ववादी सिद्ध किया था, आज वही व्यक्ति ईसाई मत का प्रशंसक बन कर उसको बहुदेवतावाद से मुक्त एकेश्वरवाद का धर्म बता रहा है। इससे अधिक विडम्बना और क्या हो सकती है? जो व्यक्ति आजन्म ईसाई पादरियों के विरुद्ध संग्राम करता रहा और जिसने हिन्दू धर्म का रक्षा के लिये अपना सर्वस्व स्वाहा कर दिया वही व्यक्ति स्वयं ईसा का अनुयायी बन जाय और उसकी लेखनी से ऐसे शब्द निकलने लगें, तो इन पर विश्वास करना भी कठिन हो जाता है।

वस्तुतः बात ऐसी ही है। राम मोहनराय के विचारों में उतना घोर परिवर्तन हो जाना आकस्मिक नहीं था। इसका कारण भी ढूँढ़ा जा सकता है, परन्तु ऐसा करने से पूर्व हम उनके द्वारा प्रस्तुत की गई ईसाई मत की प्रशंसा पूर्ण प्रशस्त्रियों और अन्य विद्वानों की सम्मतियाँ यहाँ उद्धृत कर देना आवश्यक समझते हैं, जिनसे यह ज्ञात हो जायगा कि राम मोहनराय का दृष्टिकोण किस प्रकार परिवर्तित हो गया था।

रेवरेण्ड हेनरी वेयर को लिखे गये पत्र में राम मोहनराय लिखते हैं—

"Never the less, I presume to think that Christianity, if properly inculcated, has a greater tendency

improve the moral and political state of mankind, than any other known religions System."1

अर्थात् मैं यह सोचता हूँ कि यदि ईसाईयत को ठीक प्रकार से व्यवहार में लाया जाय तो उससे, अन्य धर्मों की अपेक्षा संसार की नैतिक और राजनैतिक उन्नति होने की अधिक सम्भावना है।

९ दिसम्बर १८२२ को लिखे गये एक पत्र में राम मोहनराय ने यह आशा प्रकट की है कि हम उस दिन की प्रतीक्षा में है जब कि ईश्वरीय एकता और ईसा का उद्देश्य समस्त विश्व में फैल जायगा। उनके वास्तविक शब्द ये हैं—

"We confidently hope that, through these means the period will be accelerated, when the belife in the Divine Unity, and the mission of Christ will universally prevail."1

इस स्थिति तक आते-आते राम मोहनराय को विश्वास हो गया था कि ईसा की शिक्षायें ही नैतिकता की वृद्धि करने वाली और विचारशील लोगों के लिये ग्रहण करने योग्य हैं। इङ्गलण्ड के श्री जान डिग्वी को लिखे गये अपने पत्र में वे लिखते हैं—

"The consequence of my long and unterrupted researches into religions truth has been that. I have found the doctrines of Christ more conducive to moral Principles, and better adapted for the use of retional beings, than any others which have come to my knowledge, and have also found Hindus in general more supersititions and miserable than the rest of the known nations on the earth."2

---

1 A letter on the Prospectus of Christianity p. 875.

1 Lettars. p. 921.

2 The life and Letters of Raja Ram Mohan Roy By Miis Sophia Dobson Collect. Quoted in the English works of Raja Ram mohan

अर्थात् धार्मिक सत्य सतत की खोज करता हुआ मैं इस परिणाम पर पहुंचा हूँ कि ईसा के सिद्धान्त नैतिकता के प्रसारक और विचारशील मनुष्यों की मनः स्थिति के अधिक अनुकूल हैं अपेक्षाकृत उन सिद्धान्तों के जिनको मैं जान पाया हूँ। साथ ही मुझे यह भी ज्ञात हुआ है कि संसार के अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा हिन्दू अधिक अंधविश्वासी और दयनीयप्राणी हैं पाठक देख सकते हैं। राम मोहनराय के विचारों में कितना घोर अन्तर आगया है बाइबल की शिक्षा और पाश्चात्य विचारों के सम्पर्क ने उनके अन्दर ऐसी हीन भावना उत्पन्न कर दी है जिसके कारण उन्हें हिन्दू धर्म एक पतनशील धर्म दिखाई देता है और ईसा की शिक्षायें उन्नति की ओर ले जाने वाली दिखाई देती हैं वे यह नहीं सोचते कि यदि ईसा की शिक्षाओं में ही इतने गुण होते तो उनका प्रचार करने के लिये ईसाई पादरियों को छल कपट और धूर्तता की सहायता नहीं लेनी पड़ती ईसा की शिक्षा स्वतः ही सर्वत्र व्यापक हो जाती।

ईसाई आचारशास्त्र के प्रति राम मोहनराय का झुकाव कितना स्पष्ट था इसे प्रमाणित करने के लिये निम्नस्मृतियाँ द्रष्टव्य हैं:—पादरी फर्कुहर ने लिखा है।

"In the matter of ethics he saw the supremacy of Christ ; and in the "Precepts of Jesus" he laid the ethical teaching of Christ before hi fellow country-men and told them plainly that they required to study it and live by it. To him these precepls were the path to peace and happiness."1

अर्थात् आचारशास्त्र के विषय में उसने ईसा के उपदेशों की उच्चता का अनुभव किया था। उसने अपनी पुस्तक में ईसा के नैतिक उपदेशों को अपने देश वासियों के समक्ष प्रस्तुत किया है और उनसे स्पष्ट कहा है कि वे उनका अध्ययन करें और उनके अनुसार चलें उसकी दृष्टि में ये उपदेश शांति और आनन्द के साधन हैं।

प्रसिद्ध विद्वान मैक्समूलर भी इसका समर्थन करते हैं।

---

1 Modcrn Rcligions Movcmcnl in India p. 59.

1 Rrm mohan Roy lo Ramakrishna. p. 54.

"Man of the type of Ram Mohan Roy could not and did not shut their eyes to the superiority of Christianity from an ethical point if view."1

अर्थात् आचारशास्त्र की दृष्टि से राम मोहनराय की कोटि के मनुष्य ईसाई मत की शिक्षाओं से न तो आँखें मूंद ही सकते थे और न उन्होंने ऐसा किया ही।

जो व्यक्ति एक दिन ईसाई मत के भारत में प्रचारित किये जाने का घोर विरोधी था और जिसने एबे डुबोइस की सम्मति उद्धृत कर यह स्पष्ट घोषित कर दिया था कि भारत में ईसाई मत के प्रचलित होने और यहाँ के लोगों के ईसाई बनने की कोई सम्भावना नहीं है वही व्यक्ति आज ईसाई मत के चक्कर में पड़ कर यूरोपियन पादरी को लिख रहा है कि वह भारत में और अधिक पादरियों को भेजें जो यहाँ आकर पाश्चातशिक्षा और ईसाई आचारों का प्रचार करें वे लिखते हैं।

"Every one who interests himself in behalf of his fellow creatures, should induce you and your friends send in Bengal as many serious and able teachers of European learning and science and Christian morality as your circumstances may admit, to spread knowledge among the native community."1

अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति जो अपने भाइयों की उन्नति में दिलचस्पी लेता है आपको तथा आपके मित्रों से प्रार्थना करेगा कि आप बंगाल में यथाशक्ति ऐसे प्रचारक और उपदेशक भेजें जो यूरोपियन ज्ञान विज्ञान और ईसाई आचार शास्त्र के ज्ञाता हों उनके द्वारा यहाँ ज्ञान का प्रचार होगा इसी प्रकार प्रश्न संख्या १४ के उत्तर में राममोहनराय ने यह स्वीकार किया है कि भारत में यूनाटेरियन मिश्नरी स्कूलोंका स्थापित किया जाना नितान्त आवश्यक है—

---

1 The Prospectus Christianity in India p.883.

1 Ram Mohan to Ram Krishna. p. 60.

जिनके द्वारा भारतीय छात्रों को यूरोपीय शिक्षा अंग्रेजी भाषा और ईसाई आचार तथा सिद्धांतों की शिक्षा दी जा सके इसलिये मैक्समूलर के निम्न कथन से हम सहमत हैं।

"He spoke with the highest respect and enthusiam of Christianity, he carefully Studied the New Testament, and he willingly joined the Christian worship."1

अर्थात् राममोहनराय ने ईसाई मत को प्रति अत्यन्त आदर और उत्साह पूर्ण शब्द व्यक्त किये उन्होंने नये अहद नामे को ध्यानपूर्वक पढ़ा था और उन्होंने स्वेच्छा से ईसाई उपासना को स्वीकार किया था।

राम मोहनराय के ग्रन्थों और पत्रों तथा उनके विषय में अन्य विद्वानों के जो उद्धरण दिये हैं उनसे यह भली भांति विदित हो जाता है कि उन पर ईसाई मत का कितना विनाशकारी प्रभाव पड़ा था और यह उस परिस्थिति में हुआ जब कि वे प्राचीन वैदिक धर्म की महत्ता और उसकी सर्वांगीन प्रगति गामी शिक्षाओं से भली भांति परिचित थे राममोहनराय का ईसाई मत के प्रति यह झुकाव ब्राह्मसमाज के लिये कल्याणकारी सिद्ध नहीं हुआ केशवचन्द सेन में इसने अतिवादी रूप धारण कर लिया और धीरे धीरे उसने ब्राह्मसमाज में बचे खुचे हिन्दुत्व और राष्ट्रीय भावों को भी समाप्त कर दिया केशव में ईसाई मत की जो बढ़ती हुई प्रवृत्ति दिखाई देती है उसके मूल में राम मोहन राय का यह ईसाई मत के प्रति मोह ही है जो अभी सुप्त अवस्था में है।

यहाँ हमें इसके कारणों पर भी विचार कर लेना चाहिये और यह भी देख लेना चाहिये कि स्वामी दयानन्द में प्रवृत्ति वृहिगत क्यों न हो सकी स्वामीजी भी बाइबल के अध्ययन के विरुद्ध नहीं थे बल्कि उन्होंने तो त्रयो-दश समुल्लास की अनुभूमिकामें स्पष्ट लिखा है सब मनुष्यों को उचित है कि सबके मत विषयक पुस्तकों को देख समझ कर कुछ सम्मति या असम्मति दें उन्हों ने स्वय बाइबल के हिन्दी और संस्कृत अनुवादों का गम्भीर परिशीलन

१ सत्यार्थ प्रकाश त्रयोदश समुल्लास, अनुभूमिका

केता था परन्तु उनकी धारणायें राम मोहनराय के विचारों के प्रतिकूल थी स्वामी दयानन्द के हृदय में वैदिक धर्म की सत्यता महानता और उदारता की ऐसी गम्भीर छाप पड़ी हुई थी कि उसके स्थान पर सहज ही अन्य संस्कारों का पड़ना कठिन था वेदों और उपनिसदों की गहन गम्भीर विचार सारणि और उदात्त आचार शिक्षा के सम्मुख बाइबल की शिक्षायें वैसी ही हैं जैसी पर्वत के सामने वामन। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि स्वामी दयानन्द पर उनका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा वेदों के अनुकूल ही उपनिषद मनुस्मृति गीता पातन्जल योग दर्शन आदि आर्ष ग्रन्थों में जिन नैतिक शिक्षाओं का संकलन किया गया है वह संसार के ज्ञान भंडार की अमूल्य निधियाँ हैं ऐसे मूल्यवान मणि रत्नों की विद्यमानता में बाइबल के Surmon on the Mount आदि की शिक्षाओं के महत्त्व को स्वीकार करना ऋषि दयानन्द के लिये कठिन था।

राम मोहनराय की स्थिति इससे भिन्न प्रकार की थी। वेदों की तो बात ही क्या, वे उपनिषदों के भी तलस्पर्शी विद्वान नहीं थे। ऐसी परिस्थिति में यदि उनके समक्ष ईसाई मत की कुछ महत्त्वपूर्ण बातें आ गई तो वे उनसे बड़े प्रभावित हुए और लगे उन्हीं के गीत गाने। परन्तु उसका परिणाम बड़ा भयंकर हुआ। इस प्रकार ब्राह्म समाज में ईसाई तत्व प्रच्छन्न किन्तु शक्तिशाली रूप में प्रविष्ट हो गया, जिसे दूर करना उसके भावी नेताओं के लिये बड़ा भारी समस्या हो गई और उसी के परिणाम स्वरूप ब्राह्म समाज का भारत के धार्मिक इतिहास में केवल नाम ही शेष रह गया।

———

1 १८३५ ई० में Committee of Public Instruction के सभापति का भाषण।

ग्यारहवां अध्याय

शिक्षा की समस्या

भारत में अंग्रेजी शिक्षा का श्री गणेश लॉर्ड मैकाले की कुटिल नीति के द्वारा हुआ है। लॉर्ड मैकाले ने एक पत्र में अपनी इस नीति की ओर संकेत करते हुए लिखा था—

"We must do our best to form a class which may be interpreters between us and the millions whom we govern ; a class of persons Indian in blovd and colour but English in taste, in opinions in morals and intellect."

अर्थात् हमें एक ऐसे वर्ग के निर्माण करने का यत्न करना चाहिये जो हमारे उन लाखों व्यक्तियों के बीच मध्यस्थ का काम कर सके जिन पर हम शासन करते हैं। एक ऐसा वर्ग जो रक्त और वर्ण की दृष्टि से भारतीय हो, परन्तु रुचि और विचार, आचार और मस्तिष्क की दृष्टि से अंग्रेज। यह वह समय था जब कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार भारत में नई शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्था करना चाहती थी। प्रारम्भ में सरकार का विचार भारत-वासियों को प्राचीन पद्धति की ही शिक्षा देने का था। उस समय उक्त लॉर्ड महोदय की कूटि बुद्धि ने काम किया। उन्होंने सोचा कि यदि भारतवासियों की शिक्षा दीक्षा अंग्रेजी पद्धति पर नहीं हुई तो उनमें पराधीनता का संस्कार दृढ़ नहीं हो सकेगा और न अंग्रेजी राज्य ही यहाँ चिरस्थायी हो सकेगा।

किसी भी देश को अधिक समय तक गुलाम बनाये रखना हो तो वहाँ के लोगों की भाषा और शिक्षा की राष्ट्रीय परिपाटी को बदल कर उसके स्थान में विदेशी भाषा और शिक्षा का प्रचार कर देना चाहिये। इसी कूट मन्त्र का प्रयोग लॉर्ड मैकाले ने किया। उन्हें अपने इस कार्य में सफलता भी मिली इसकी चर्चा उन्होंने सन् १८३६ में लिखे गये अपने पिता के नाम एक पत्र में की है। वे लिखते हैं—

"No Hiudu, who has received an English education, ever remains sincerely attached to his religion, some continue to profess it as a matter of policy, but many profess themselves pure Deists and some embrace Christianity, it is my Sirm belife that if our plans of education are followed up, there will not be a single idolator among the respectable classes in Bengal thirty years hence."

अर्थात् जो भी हिन्दू अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण कर लेता है, वह अपने धर्म के प्रति सच्ची श्रद्धा और विश्वास खो बैठता है। कुछ केवल दिखाने के रूप में उसे मानते हैं। अधिकतर शुद्ध ईश्वरवादी बन जाते हैं और कुछ ईसाई हो जाते हैं। यह मेरा दृढ़ और निश्चित विश्वास है कि यदि शिक्षा की हमारी योजना पूरी तरह काम में लाई गई, तो अब से तीस वर्ष पश्चात् बंगाल के उच्च घरानों में एक भी मूर्तिपूजक (हिन्दू) नहीं रहेगा।

मैकाले की शिक्षा नीति का पर्याप्त दिग्दर्शन हो चुका, परन्तु आश्चर्य तो यह है कि राम मोहनराय की शिक्षा विषयक नीति भी उससे अधिक भिन्न नहीं थी।

जिस समय की हम बात कर रहे हैं, उस समय सरकार का विचार कलकत्ते में एक संस्कृत कालेज खोलने का था। प्राचीन शिक्षा पद्धति के पक्षपाती लोग इस योजना से प्रसन्नता अनुभव कर रहे थे। परन्तु राममोहन राय की दृष्टि में संस्कृत कालेज की स्थापना और संस्कृत शिक्षा का पुनरुत्थान एक अनावश्यक और हानिकर वस्तु थी। उन्होंने इसका विरोध किया और एक पत्र तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड एमहर्स्ट को लिखा[१] जिसमें उन्होंने संस्कृत शिक्षा का डट कर विरोध किया और सरकार से प्रार्थना की कि वह संस्कृत कालेज खोलने का विचार छोड़ कर अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार करे।

---

१ A Letter on English Education.

२ Life of Ramakrishna p. 107.

राम मोहन राय अंग्रेजी शिक्षा के घोर पक्षपाती थे। श्री गैमांगेला ने उनके विषय में ठीक ही लिखा है—

He (Ram Mohan Roy) went sofar as to wish his people to adopt English as their universal language, to make India western socially and then to achieve independece and enlighten the rest of Asia."1

अर्थात् राम मोहन राय यहाँ तक बढ़े कि उन्होंने अंग्रेजी को भारतवासियों की अपनी भाषा स्वीकार करने की इच्छा प्रकट की। वे भारत को सामाजिक दृष्टि से पाश्चात्य देशों के नमूने पर लाना चाहते थे उसके पश्चात् स्वतन्त्रता प्राप्त करना और एशिया के अन्य भागों में नवजागरण का प्रकाश फैलाना उनका लक्ष्य था। राम मोहन राय अंग्रेजी को भारत की राष्ट्र भाषा तो नहीं बना सके हाँ, उनको अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार में सफलता अवश्य मिली। भारतवासियों की मानसिक गुलामी के लिये जब अंग्रेजी शिक्षा को दोषी ठहराया जाता है तो हमें यह भी नहीं भुलाना चाहिये कि उसकी वकालत करने वाले राम मोहनराय जैसे व्यक्ति भी उतने ही दोषी हैं जितने लॉर्ड मैकाले। यदि उस समय राम मोहन राय ने अंग्रेजी शिक्षा का पक्ष नहीं लिया होता तो भारत की शिक्षा व्यवस्था का रूप कुछ और ही हुआ होता।

लार्ड एमहर्स्ट को पेश किये गये अपने पत्र में राम मोहनराय ने लिखा—

"We find the government are establishing a Sans krit School under Hindu pandits to impart such knowledge as is already current in India. This seminary can only be expected to load the minds of youth with grammatical ricetics and metaphysical distincitions of little or no practical use to the possessers or to society."1

---

1 A Letter on English Education p. 472.
1 ibid.

अर्थात् हमें यह ज्ञात हुआ है कि सरकार पण्डितों के नियन्त्रण में एक ऐसा संस्कृत स्कूल स्थापित करने जा रही है, जिसमें प्रचलित परिपाटी के अनुसार संस्कृत शिक्षा दी जायगी। इस पाठशाला से यही आशा की जाती है कि इसमें जो विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करेंगे, उनके मस्तिष्क में व्याकरण के सूक्ष्म नियमों और दार्शनिक सूक्ष्म भेदों को ठूँस-ठूँस कर भर दिया जायगा जिनका कि समाज और उन विद्यार्थियों के लिये भी कोई महत्व नहीं है।

संस्कृत भाषा की कठिनाई की ओर संकेत करते हुए राम मोहनराय लिखते हैं—

"The Sanskrit language, so difficult that almost a life time is necessary for its accquistion, is well known to have been for ages a lamentable check to the diffusion of knowledge, and the learning concealed under this impervious veil, is far from sufficient to reward the labour of acquiring it."1

अर्थात् संस्कृत भाषा इतनी कठिन है कि उसे सीखने के लिये लगभग सारा जीवन लगाना पड़ता है। ज्ञान प्राप्ति के मार्ग में यह शिक्षा ही कई युगों से बाधक सिद्ध हो रही है। इसे सीखने पर जो लाभ प्राप्त होता है वह इसको सीखने में किये गये परिश्रम की तुलना में नगण्य है। संस्कृत शिक्षा पद्धति से परिचय रखने वाला कोई भी व्यक्ति राम मोहन राय के मत से सहमत नहीं हो सकता। संस्कृत सीखने में जिन्दगी खपा देने की मूर्खता वे लोग करते हैं जो ऋषियों की अध्ययन अध्यापन विधि से अनभिज्ञ होते हैं। अन्यथा ऋषि दयानन्द ने पठन-पाठन की जो विधि सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में लिखी है उसका अनुसरण करने पर ब्रह्मचर्य काल में ही सांगोपांग वेदों और अन्य शास्त्रों का अध्ययन किया जा सकता है। ऋषि लिखते हैं—"ऐसा प्रयत्न पढ़ने और पढ़ाने वाले करें कि जिससे बीस वा इक्कीस वर्ष के भीतर समग्र विद्या उत्तम शिक्षा प्राप्त होके मनुष्य लोग कृत-कृत्य हो कर सदा आनन्द में रहें। जितनी विद्या इस रीति से (आर्ष पाठन

१ सत्यार्थप्रकाश-तृतीय समुल्लास

प्रणाली से) बीस या इक्कीस वर्षों में हो सकती है उतनी अन्य प्रकार से (अनार्ष प्रणाली से) शतवर्ष में भी नहीं हो सकती ।"

इसी प्रसंग में राम मोहनराय संस्कृत व्याकरण के नियमों का उपहास करते हुए लिखते हैं—

"No improvement can be expected from inducing young men to consume a dozen years of the most valuable period of their lives, in aquiring the nicetics of Vyakaran or Sanskrit Grammar, for instance in learning to discuss such points as the following : खाद, signifying to eat, खादति he or she or it eats, querry, whether does खादति taken as a whole convey the meaning he. She or it eats, or are separable parts of this meaning conveyed by distinction of words, as if in English language it were asked how much meaning is there in 'eat and how much in the 's' and is the whole meaning of the word conveyed by these two portions of it distinctly or by them taken jointy."[1]

अर्थात् संस्कृत व्याकरण के सूक्ष्म नियमों के अध्ययन में नवयुवकों की जिन्दगी के बहुमूल्य १२ वर्षों को झोंक देना सरासर गलती है । उदाहरण के लिये–'खाद' का प्रयोग खाने के लिये होता है और 'खादति' 'वह' (सः) के साथ आता है । अब शंका यह उत्पन्न होती है कि 'खादति' शब्द से ही यह अर्थ निकलता है कि इसका प्रयोग 'सः' या 'सा' के साथ होना चाहिये अथवा 'ति' प्रत्यय लगने से इसका यह अर्थ बना । जैसे अंग्रेजी भाषा में पूछा जाय कि 'eat' का क्या अर्थ है और उसके आगे 's' लगाने पर क्या अर्थ हो जाता है आदि ।"

हमारा निवेदन है कि केवल उपहास करने से ही संस्कृत व्याकरण का गौरव कम नहीं हो जाता । महर्षि पाणिनि और पतञ्जलि जैसे ऋषियों ने संस्कृत व्याकरण शास्त्र की रचना की है और उनकी इस महासृष्टि को देख

---

1 Ibid. p. 473.

का सभी पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वान चकित रह जाते हैं। अतः राममोहन राय के उक्त कथन का कोई विशेष मूल्य नहीं है।

जिस प्रकार उन्होंने संस्कृत व्याकरण की अनुपयोगिता सिद्ध करने का निष्फल प्रयत्न किया उसी प्रकार वेदान्त, मीमांसा और न्याय आदि दर्शनों के अध्ययन को भी उन्होंने अनावश्यक बताया। उनके तर्क निस्सार हैं और वे उनके विचारों में परस्पर विरोध (Self Contradiction) भी उपस्थित करते हैं। वेदान्त के विषय में राम मोहनराय लिखते हैं—

"Neither can much improvement arise from such speculations as the following which are the themes suggested by the Vedant—in what manner is the soul absorbed in the Deity? What relation does it bear to the Divine Essence? Nor will yonths be fitted to be better members of the society by the Vedantic doctrines which teach them to believe, that all visible things have no real existence, that as afther, brother etc have no actual entityre they consequently deserve no rIal affection, and thefore the sooner we escape from them and leave the world the better."1

अर्थात् वेदान्त के अध्ययन से भी कोई विशेष लाभ नहीं है क्योंकि वेदान्त में यह बताया जाता है—जीव भगवान् से कैसे मिलता है, ईश्वर से जीव का क्या सम्बन्ध है आदि। वेदान्त के सिद्धान्त से हमारे नवयुवक समाज के उत्साही और योग्य सदस्य नहीं बन सकते, क्योंकि वेदान्त सिखाता है कि जो दृश्यमान पदार्थ हैं वे मिथ्या हैं। पिता भाई आदि का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है इसलिये उनके प्रति प्रेम होने की कोई आवश्यकता नहीं है जितनी शीघ्रता से हम सांसारिक बंधनों को छोड़ कर संसार से मुक्त हो जावें उतना ही अच्छा।

---

1 Ibid. p. 473.

जिस वेन्दात को राम मोहनराय अपने ग्रन्थों में गौरवान्वित कर चुके हैं उसी के सम्बन्ध में ऐसी बातें लिखना यह सिद्ध करता है कि लेखक की कोई निश्चित विचार सरणि नहीं है अपने वेदान्त भाष्य तथा उपनिषदों के अनुवादों में सर्वत्र राम मोहनराय वेन्दात को अपना दार्शनिक सिद्धांत घोषित कर चुके हैं परन्तु अंग्रेजी शिक्षा के मोह में पड़ कर वे अपने इस प्रिय सिद्धांत को भी तिलांजलि दे बैठे और लगे इसके विरुद्ध लेखनी चलाने यहाँ आते आते उन्हें इन प्रश्नों में कोई सार नहीं दिखाई देने लगा जिनके द्वारा समस्त आध्यात्मिक विद्याओं का रहस्य जाना जाता है ईश्वर और जीवका सम्बन्ध तथा जीव की मुक्ति जैसे महत्वपूर्ण प्रश्न भी निस्सार और अनुपयोगी जान पड़े ईसाइयों को उत्तर देते समय उन्होंने जिस मायावाद का समर्थन किया था और जिसके पक्ष में उन्होंने अनेक तर्क प्रस्तुत किये थे उसी मायावाद की अन्त्येष्टि उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा के मोह में पड़ कर कर दी।

मीमांसा और न्यायदर्शन की युक्ति युक्त सिद्धि राम मोहनराय ने 'समाचार दर्पण' में प्रकाशित ईसाई पादरी के आक्षेप के उत्तर के रूप में की थी उसी परिकाम पर पानी फेर देने वाले निम्न वाक्यों को देखिये—

"No essential benefit can be derived by the Student of Mimansa from knowing what it is that makes the killer of a goat sinless by pronouncing certain passages of the Vedanta and what is the real nature and opretive influence of passages of the Vedas etc."1

अर्थात् मीमांसा शास्त्र के विद्यार्थी को भी यह जान कर कोई लाभ नहीं पहुँच सकता कि वेद के किन मन्त्रों के उच्चारण करने से बकरे को मारने

---

1 Ibid. p. 473.

२ मीमांसा के सम्बन्ध में यह राम मोहनराय के निज के विचार हैं कि इस शास्त्र में पशुहिंसा विहित मानी जाती है हमारी सम्मति इसके सर्वथा प्रतिकूल है। लेखक।

1 Ibid. p. 473.

वाले के पाप दूर हो जाते हैं अथवा वेद मन्त्रों का क्रियापरक अर्थ करना है आदि ।

मीमांसा का मखौल उड़ाया करने के पश्चात् राम मोहनराय का तर्क कुठार न्यायदर्शन पर चला—

"The student of Nyaya shastra can not be said to have improved from it into how many ideal classes the objects in the universe are divided and what speculative relation, the soul bears to the body, the body to the soul, the eye to the ear, etc."[1]

अर्थात् न्याय शास्त्र का विद्यार्थी यह जान कर अपने मस्तिष्क का विकास नहीं कर सकता कि जगत के पदार्थों का आदर्श वर्गीकरण कौन-सा हो सकता है और शरीर तथा आत्मा का परस्पर में क्या सम्बन्ध है आंख और कान का क्या सम्बन्ध है आदि । भगवान् गौतम ने न्याय के जिन षोडश पदार्थों के ज्ञान से निश्रेयस सिद्धि होना बताया है उनके लिये राम मोहनराय लिखते हैं कि उनके ज्ञान से विद्यार्थियों को क्या लाभ होगा ? ऐसा प्रतीत होता है कि राम मोहनराय ने अंग्रेजी शिक्षा की श्रेष्ठता और संस्कृत शिक्षा की हीनता प्रदर्शित करने के लिये ही इन निस्सार बातों का संग्रह अपने पत्र में किया था अन्यथा कोई साधारण बुद्धिवाला मनुष्य भी व्याकरण, वेदान्त, मीमांसा न्याय जैसे गहन गम्भीर शास्त्रों का उपहास करने का दुस्साहस नहीं कर सकता और न ही यह कह सकता कि इनका अध्ययन अनुपयोगी है पक्षपात का चश्मा लगा कर ही ऐसी बातें कहना सम्भव है यदि राम मोहनराय को अंग्रेजी शिक्षा की श्रेष्ठता ही प्रदर्शित करनी थी तो वे अन्यथा रीति से भी कर सकते थे क्या उसके लिये संस्कृत विद्या के प्रति इतना विष उगलना आवश्यक ही था ?

अपने पत्र के अन्त में एक बार पुनः यदि लिख कर अपने जी को संतोष देते हैं कि ।

---

1 Ibid. p. 474.

"The Sanskrit System of education would be the best calculated to keep this country in darkness; if such has been the policy of the British legislator."1

अर्थात् संस्कृत शिक्षा इस देश को अन्धकार में गिरा देगी क्या ब्रिटिश सरकार यही चाहती है ? यह था वह विष बीज जो राम मोहनराय और लार्ड मैकाले के सम्मिलित प्रयत्नों से बोया गया और जिसका दुखद फल भारतवासी अब भी भोग रहे हैं। हमारी मानसिक गुलामी का प्रारम्भ उसी दिन से हुआ जब भारतवासियों में से ही एक ने यह सिद्ध कर दिया कि संस्कृत विद्या सर्वथा निकम्मी और अकर्मण्य बना देने वाली है अंग्रेजी शिक्षा की दासता ब्रह्म समाज में परम्परागत रीति से प्रचार पाती रही और उसकी चरम अभिव्यक्ति हुई केशवचन्द्र की अराष्ट्रीय प्रवृत्तियों में।

स्वामी दयानन्द इस प्रकार की पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली के सर्वथा विरुद्ध थे उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में आदर्श शिक्षा पद्धति और पठन पाठन व्यवस्था की एक सुन्दर और व्यावहारिक रूपरेखा उपस्थित की है। परिपाटी का अनुसरण करते हुए स्वामी श्रद्धानन्द ने उस गुरुकुल प्रणाली को मूर्त रूप प्रदान किया जिसे स्वामी दयानन्द ने प्रतिपादित किया था यद्यपि सर्वांगीण रूप से दयानन्द द्वारा निर्देशित पाठविधि का अनुसरण नहीं किया जा सका परन्तु उसकी मूल भावना के दर्शन हमें गुरुकुल प्रणाली में हो सकता है स्वामी दयानन्द का शिक्षा सम्बन्धी दृष्टिकोण सर्वथा प्राचीन होते हुये भी नवीन था क्योंकि उन्होंने नये ज्ञान विज्ञान का कभी तिरस्कार नहीं किया। आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं की प्रशंसा करते हुये श्रीयुत रंगा अय्यर ने ठीक ही लिखा है।

"Arya Samaj School aims at fostering nationalism even their critics recognise that they are genuine educational institutions, very different from political mushrooms which Non-Cooperation called into exisetnce."1

---

1 Father India. p. 76.

अर्थात् आर्यसमाजिक के विद्यालयों का उद्देश्य राष्ट्रीयता को जाग्रत करना है उनके समालोचक भी यह स्वीकार करते हैं कि वह असहयोग के दिनों में अचानक स्थापित हुये अल्पजीवी राष्ट्रीय स्कूलों से भिन्न वास्तविक शिक्षण संस्थायें हैं।

यहीं पर हम राम मोहनराय और स्वामी दयानन्द की शिक्षा नीति में भिन्नता देख सकते हैं आज स्वतन्त्रभारत में संस्कृत का पुनरुत्थान इस बात का सूचक है कि दयानन्द ने ही भविष्य को देखा था उसकी क्रान्तिकारिणी शिक्षा योजना में ही स्वाधीनता को चिनगारी छिपी थी।

बारहवां अध्याय

समाज में नारी का स्थान

वैदिक धर्म में अत्यन्त प्राचीन काल से ही नारी जाति को अत्युच्च स्थान प्राप्त है। वेदों में स्त्रियों के लिये अत्यन्त सम्मानपूर्ण शब्द प्रयुक्त हुए हैं- "शुद्धा पूता योषितो यज्ञिया इमाः" अर्थात् स्त्रियाँ शुद्ध हैं, पवित्र हैं और यज्ञ के समान आदरणीय तथा मंगलकारिणी हैं। वैदिक युग में स्त्रियों के अधिकार पुरुषों के ही तुल्य ही थे। गार्हस्थ्य क्षेत्र में ही नहीं, आध्यात्मिक और धार्मिक क्षेत्र में भी स्त्रियाँ उन्नति के शिखर पर चढ़ी हुई थीं। जिस प्रकार वशिष्ठ, विश्वामित्र, वामदेव, कण्व आदि ऋषियों ने वेद मन्त्रों का साक्षात्कार किया था, उसी प्रकार स्त्रियों में भी घोषा, अपाला, लोपामुद्रा आदि ऋषिकाएँ हो गई थीं, जिन्होंने परमात्मा के दिव्य ज्ञान का समाधि अवस्था में दर्शन किया था।

वैदिक काल की यह परम्परा उपनिषतकाल तक मिलती है। इस युग में वाचक्नवी, गार्गी और याज्ञवल्क्य पत्नी मैत्रेयी जैसी स्त्रियों का उल्लेख मिलता है। ये शास्त्रों की पूर्ण पण्डिता, शास्त्रार्थ निष्णात एवं ब्रह्मविद्या

को समर्थ थीं, जिनके सम्मुख वाद में बड़े-बड़े ऋषि भी नहीं खड़े हो सकते थे।

यह अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिये कि मध्यकाल में नारी जाति की दशा शोचनीय हो गई थी। इस समय के सम्प्रदायाचार्यों ने उसे नरक का द्वार ही समझा। श्री शंकराचार्य द्वारा लिखित 'प्रश्नोत्तरी' नामक एक छोटी सी पुस्तक में लिखा है—"द्वारं किमेकं नरकस्य" अर्थात् नरक का द्वार क्या है ? इसका उत्तर दिया है–नारी। दूसरा प्रश्न है–"विश्वासपात्र न कस्ति" उत्तर–नारी। लगभग इसी प्रकार के विचार रामानुज, मध्व, निम्बार्क आदि वैष्णवाचार्यों और कबीर, दादू, सुन्दरदास आदि निर्गुणवादी सन्तों ने प्रकट किये हैं, जिनसे उनकी स्त्रियों के प्रति अनुदार मनोवृत्ति का पता चलता है।

वर्तमान युग स्त्री जाति के उद्धार और उसे पुनः अपने प्राचीन लुप्त गौरव पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय ऋषिवर दयानन्द जैसे उदारमना संन्यासी का ही है, जिसने एक बार पुनः मनु के शब्दों में घोषणा की—

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।" पौराणिक युग में ही स्त्रियों का वेद पढ़ने का अधिकार छीन लिया गया था और 'स्त्रीशूद्रौनाधीयताम्' जैसे कपोल कल्पित वाक्य प्रचलित हो गये थे जो नारी जाति की उन्नति और प्रगति में बाधा उपस्थित कर रहे थे। ऋषि दयानन्द ने 'यथेमां वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्यः। ब्रह्म राजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥'[१] आदि वेद मन्त्रों के द्वारा यह सिद्ध कर लिया कि परमात्मा की कल्याणकारी वेदवाणी को पढ़ने का अधिकार स्त्री, शूद्र आदि सभी को है। अथर्ववेद के प्रमाण[२] से उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि जैसे लड़के

---

१ यजुर्वेद २६।२

२ ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अथर्ववेद काण्ड ४ प्र० ४ अ० ३ मं० १८

३ सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास

१ सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास

ब्रह्मचर्य सेवन से पूर्ण विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होकर युवती विदुषी अपने अनुकूल, प्रिय, सदृश स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं, वैसे ही कुमारी कन्यायें ब्रह्मचर्य सेवन से वेदादि शास्त्रों को पढ़, पूर्ण विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवती होके पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश प्रिय विद्वान् पूर्ण युवावस्था युक्त पुरुषों को प्राप्त होवें ।३ उन्होंने श्रौत सूत्रों से भी यह सिद्ध किया कि स्त्रियों को वेद पढ़ने का अधिकार है, क्योंकि वहाँ आता है–'इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्' यदि कन्या वेदादि शास्त्रों को पढ़ी हुई न होगी तो स्वर सहित मन्त्रों का उच्चारण और संस्कृत भाषण कैसे कर सकेगी ?

भारत की प्राचीन विदुषी नारियों के विषय में महर्षि लिखते हैं— भारतवर्ष की स्त्रियों में भूषण रूप गार्गी आदि वेदादि शास्त्रों को पढ़ कर पूर्ण विदुषी हुई थीं यह शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है । भला जो पुरुष विद्वान् और स्त्री अविदुषी और स्त्री अविदुषी और पुरुष अविद्वान् हो तो नित्य प्रति देवासुर संग्राम घर में मचा रहे फिर सुख कहाँ ?........देखो आर्यावर्त के राजपुरुषों की स्त्रियाँ धनुर्वेद, अर्थात् युद्ध विद्या भी अच्छी प्रकार जानती थीं, क्योंकि न जानती होतीं तो कैकयी आदि दशरथ के साथ युद्ध में क्यों कर सकतीं ।'१ सत्यार्थ प्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में महर्षि ने मनुस्मृति के श्लोकों के आधार पर नारी की श्रेष्ठता का वर्णन किया है, अनावश्यक विस्तार से उसका उल्लेख करना उचित नहीं ।

महर्षि दयानन्द नारी के सामाजिक अधिकारों के प्रति भी पूर्णतया जागरूक थे । उन्होंने बाल विवाह, वृद्ध विवाह, अनमेल विवाह आदि से होने वाले सामाजिक अत्याचारों को मिटाने के लिये भरसक प्रयत्न किया और उन्हें पूर्ण सामाजिक, आर्थिक, नैतिक और धार्मिक स्वतन्त्रता की अधिकारिणी बनाया । महर्षि की स्त्री जाति के प्रति की गईं इन्हीं सेवाओं से मुग्ध होकर प्रसिद्ध फ्रेन्च मनीषी रोमां रोला ने लिखा है—

"Dayanand was no less generous and no less bold in his crusade to improve the condition of women, a

1 Life of Ramakrishna, p. 163

deplorable one in India, He revolted against the abuses from which they suffered, recalling that in the heroic age they eccupied in the home and in society a position at least equal to man,"1

अतः भारत में स्त्रियों की शोचनीय स्थिति को सुधारने के प्रयत्न में भी दयानन्द कम उदार और साहसी नहीं थे। जिन सामाजिक कुरीतियों का वे शिकार हो रही थीं, उनके विरुद्ध उसने क्रान्ति की और लोगों को स्मरण दिलाया कि प्राचीन युग में उनकी घर में तथा समाज में स्थिति कम से कम पुरुष के समान थी। अतः इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं है कि नारी जाति का अपि दयानन्द से अधिक शुभचिंतक इस युग में और कोई नहीं था।

राम मोहनराय के विचार भी स्त्रियों के प्रति अत्यन्त उदार और सम्मानास्पद थे। उन्होंने तो अपने समय में प्रचलित सती प्रथा जैसी क्रूर, पाशविक और अमानवीय प्रथा को बन्द कराने के लिये अपनी सारी शक्ति ही लगा दी थी। अन्त में वे अपने उद्देश्य में सफल हुए और उनके प्रयत्नों से सन् १८२९ में सरकार ने सती प्रथा को कानून के द्वारा बन्द कर दिया। यही नहीं स्त्रियों के आर्थिक स्वत्वों की रक्षा के लिये भी वे सजग थे। सन् १८२२ में उन्होंने एक छोटी सी पुस्तक लिखी—

"Brief Remarks regarding modern encroachment on the ancient rights of Females according to the Hindu law of Inheritance."1

इस पुस्तक में अनेक स्मृतियों और धर्म शास्त्रों की सम्मतियाँ उद्धृत करते हुए यह सिद्ध किया गया है कि स्त्री का अपने पति की सम्पत्ति में अधिकार है।

स्त्रियों के प्रति राम मोहनराय के उदार विचारों का उल्लेख हमें उनके उन लेखों में भी मिलता है जो सती प्रथा के विरोध में लिखे गये हैं। ऐसे

1 The English works of Raja Ram Mohan Roy. p. 373-384.

ही एक लेख "Second conference on the practice of burning widows alive." में वे लिखते हैं—

"Women are in general inferior to men in bodily strength and energy ; consequently the male part of the community, taking advantage of their corporeal weakness, having devied to them those excellent merits that they are entitled by nature, and afterwards they are apt to say that women are naturally incapable of acquiring those merits. But if we give the subject consideration, we may easily ascertain whether or not your a accusation against them is consistent with justice. As to their inferiority in point of understanding, when did you ever afford them a fair opportunity of exhibiting their natural capacity ? How then can you accuse them of want of understanding ? If, after instruction in knowledge and wisdom, a person cannot comprehend or retain what has been taught him, we may consider him as deficient, but as you keep women generally void of edudation and acquirements. you cannot, therefore, in justice pronounce on their inferiority. On the contrary, Lilavati, Bhanumati, the wife of the prince of Karnat, and that of Kalidasa, celebrated for their thoruigh knowledge of all the Shastras; moreover in the Vrihadaranyaka Upanishad of the Yajurveda, it is clearly stated that Yajnavalkya imparted divine knowledge of the most difficult nature to hls wife Maitreyi, who was able to follow any completely attain it."1

अर्थात् साधारण स्त्रियाँ शारीरिक दृष्टि से पुरुषों से कमजोर होती हैं, इसलिये पुरुष लोग उनकी इस कमजोरी का लाभ उठा कर उनके वे अधि-

---

p. 360-361.

बार छीन लेते हैं, जो प्रकृति की ओर से उन्हें मिले हुए होते हैं। इसके पश्चात् पुरुष यह कहने लगते हैं कि स्त्रियाँ उन अधिकारों के योग्य नहीं हैं। परन्तु यदि हम इस विषय पर थोड़ा विचार करें तो हम इस निश्चय पर आ सकते हैं कि इन आरोपों में सत्यता है या नहीं? जहाँ तक समझ और बुद्धि का प्रश्न है, आप उन्हें ऐसा अवसर देते ही कब हैं, जब वे अपनी इस शक्ति को दिखा सकें? तब आप उन पर बुद्धि की कमी का आरोप कैसे कर सकते हैं? यदि किसी व्यक्ति को बराबर ज्ञान और बुद्धि की शिक्षा दी जाय और उसके पश्चात् भी वह उस ज्ञान को धारण न कर सके तो हम उसे अकर्मण्य कह सकते हैं, परन्तु आप तो साधारणतया स्त्रियों को शिक्षा और अन्य गुणों से पृथक ही रखते हैं, इसलिये उनको तुच्छ कह कर एक पक्षीय निर्णय देना उचित नहीं। इसके विपरीत लीलावती, करणाट के राजा की पत्नी भानुमती, कालिदास की पत्नी (विद्योत्तमा) आदि स्त्रियाँ अपने विशद ज्ञान के कारण प्रसिद्ध हैं। यजुर्वेद के बृहदारण्यक में उपनिषद् में स्पष्ट लिखा है कि याज्ञवल्क्य ने सबसे कठिन ब्रह्म विद्या का उपदेश अपनी पत्नी मैत्रेयी को किया था। वह उसे समझने में उसके अनुसार आचरण करने में भी समर्थ हुई थीं।

अतः स्पष्ट है कि राम मोहन राय स्त्रियों के बड़े भारी हितैषी और शुभचिंतक थे। उन्होंने अपने समय में प्रचलित कुलीन विवाह और बहु-विवाह आदि कुप्रथाओं का भी विरोध किया, यद्यपि उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। वे स्वयं बहुविवाह के शिकार थे।

———

तेरहवां अध्याय

मांस, मदिरा और नृत्य आदि

राम मोहनराय के जीवन में कुछ ऐसी बातों का भी उल्लेख मिलता है जिनका यदि साधारण दृष्टि से विचार किया जाय तो वे विशेष महत्वपूर्ण मालूम नहीं होती परन्तु हम यह जानते हैं कि वे एक साधारण श्रेणी के व्यक्ति नहीं थे वे एक नवीन सम्प्रदाय प्रवर्तक और समाज सुधारक थे। हजारों व्यक्ति उनके विचारों और व्यवहारों से प्रभावित हुये और अनेकों ने उन्हें अपना आध्यात्मिक गुरु स्वीकार किया था ऐसी परिस्थिति में उनका चरित्र उन श्रेष्ठ पुरुषों की भांति आदर्श होना चाहिये जिनके विषयमें गीता में कहा गया है यद्यदाचरित श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।। ३ २१ श्रेष्ठ पुरुष जो करता है वही और लोग भी करते हैं श्रेष्ठ व्यक्ति जिसे उत्तम समझता है और लोग भी उसे ही उत्तम समझते हैं।

हमें खेद के साथ लिखना पड़ता है कि राम मोहनराय का आचरण कहीं कहीं गीता के इस उपदेश के प्रतिकूल होगया है उनकी जीवनी में ऐसे प्रमाण आते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि राम मोहनराय मांस भक्षण और मदिरा पान में कोई आपत्ति नहीं समझते थे उनकी हिन्दी जीवनी में लिखा है।

राम मोहनराय मांस मदिरा को बुरा नहीं समझते थे और वे स्वयं खाते पीते थे ....''उनका सिद्धान्त था कि मांस के कारण परमात्मा के ज्ञान में कोई बाधा नहीं आती यदि न खाया जाय तो बहुत अच्छा पर खाया जाय तो कोई हानि भी नहीं मदिरा को वे औषधि के तौर पर लेते थे१ इसी पुस्तक

---

१ राम मोहनराय ले० शिवनारायण द्विवेदी पृ० २००

२ वही पृ० ८४

३ वही पृ० ८४

1 p. 16.

के पृष्ठ १८६ पर लिखा है कि वे एक साबुत बकरे का मांस खा जाते थे उन्होंने एक स्थान पर कहा था आगम (तंत्र) की मांस भोजन की आज्ञा के अनुसार अपने अपने धर्म से निवेदन पूर्वक मांस भक्षण से पाप नहीं होता२ उन्होंने कायस्थों के साथ मदिरा पान पर बिचार३ नामक एक पुस्तक भी लिखी थी जिसमें मदिरा पान का समर्थन किया गया था।

मांस भक्षण के समर्थन में राम मोहनराय कोई स्पष्ट शास्त्रीय प्रमाण तो नहीं दे सके परन्तु एक जगह उन्होंने जरा चालाकी से काम लेकर लोगों को यह बताने की कोशिश अवश्य की थी कि शास्त्रों में आपधर्म के रूप में मांस भक्षण के औचित्य को स्वीकार किया गया है अपने Abridgment of the Vedanta नामक ग्रन्थ में छान्दोग्य उपनिषदको उद्धृत करते हुये आप लिखते है।

"The above mentioned authority of the Veda for eating all sorts of food should only be observed at the time of distress, because it is found in the (not in the Veda but in the Upnishad', that Chakrayane (a celebrated Brahmin) ate the meat cooked by the elephant keepers during a famine".1

अर्थात् वेदों की भोजन के विषय में स्वेच्छाचार विषयक आज्ञा केवल आपधर्म की स्थिति में ही लागू होती है क्यों कि उपनिषद राम मोहनराय के मत से वेद में यह आता है कि अकाल पड़ने पर उषस्ति चाक्रायण ने हाथीवान से मांस लेकर खाया था जिस व्यक्ति ने छान्दोग्य उपनिषद पढ़ा है वह जानता है कि उषस्ति चाक्रायणने हाथीवान से लेकर मांस नहीं अपितु झूठे उड़द लिये थे१ जो उसने अपनी पत्नी को भी दिये और खुद ने भी खाये छान्दोग्य में स्पष्ट ही 'कुल्मांष' शब्द का प्रयोग आता है जिसका मांस अर्थ कदापि नहीं हो सकता।

The Englih of Raja Ram Mohan Roy के सम्पादक ने Introduction में राम मोहनराय के मदिरापान का समर्थन किया है वह लिखता है :

He was a moderate drinker and even quoted Shastras in favour of the practice."2

राम मोहनराय के इस कथन के लिये कोई प्रमाण नहीं कि मांस भक्षण से परमात्मा के ज्ञान में कोई बाधा नहीं आती यदि वस्तुतः ऐसा ही होता तो जीवहत्या को अपराध क्यों माना जाता ? महर्षि पतंजलि ने तो योगदर्शन में अहिंसा को इसी लिये महत्त्वपूर्ण स्थान दिया था यदि अहिंसा का महत्त्व स्वीकार नहीं किया जाता तो वेदों और उपनिषदों में दर्शनों और स्मृतियों में एक स्वर से जीवहिंसा को पाप क्यों बतलाया जाता ? योगियों का यह अनुभव है कि मांस भक्षण करने वाला कभी समाधि अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता जब वह साधारण यमनियमों का ही पालन नहीं पालन करेगा तो परमात्मा को प्राप्त होना तो दूर की बात है।

राम मोहनराय ने मांस और मदिरा का समर्थन तंत्र ग्रन्थों के आधार पर किया है परन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं राम मोहनराय स्वयं भी स्वीकार करते हैं कि वेदों के सामने तंत्रों के प्रमाणों का कोई मूल्य नहीं वस्तुः तंत्र ग्रन्थ तो हिन्दूधर्म की चरम पतनावस्था के सूचक हैं जब कि धर्म के नाम पर मद्य मांस और मैथुन आदि वस्तुओं का प्रयोग होने लगा था और समाज में दुराचार और व्यभिचार का प्रसार होगया था ऐसे तंत्र ग्रन्थों के प्रमाण का क्या महत्त्व हो सकता है यह सोचने की बात है। स्वयंशाक्त ग्रन्थों में ही तंत्र और आगम शास्त्रों को श्रुति और स्मृति से विरुद्ध होने के कारण तामसी शास्त्र कहा गया है। शिवजी ने लोगों को मोहित करने के लिये ही इनकी रचना की गई है ऐसा देवी भागवत में कहा गया है। १ अतः तंत्र ग्रन्थों के आधार पर मांस भक्षण और मदिरा पान का समथन कभी उचित नहीं ठहराया जा सकता।

स्वामी दयानन्द तो संन्यासी थे। अतः मदिरा व मांस में उनका स्वय

१ श्रुति स्मृति विरुद्धानि तामसायवे सर्वशः।
बामं कापालकं चैव कौतकं भैरवागमः ॥
शिवेन मोहनार्थाय प्रणीतो नान्य हेतुकः ॥
देवी भागवत अन्तर्गत भगवतीगीता अ० ६।२७।२८।

का अनुरक्त होना या इनको शास्त्रानुमोदित घोषित करना कल्पना में भी नहीं आसकता यद्यपि ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों के पौराणिक लेखकों के षड्यंत्र से एक बार ऋषि के सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों में यज्ञों में पशु बलि और मृतक श्राद्ध जैसे विषय प्रविष्ट कर दिये गये थे परन्तु स्वामीजी को इस धूर्तता का ज्ञान तुरन्त ही होगया। उन्होंने विज्ञापन निकालकर इसका स्पष्टीकरण प्रकाशित करा दिया कि ग्रन्थों में जो मांस के विधान और मृतक श्राद्ध विषयक लेख छप गये हैं वे उनके मन्तव्य के प्रतिकूल हैं। मांस भक्षण करना तो दूर उन्हें तो मांस देखने से ही घृणा थी। एक बार उत्तराखन्ड की यात्रा में उन्होंने अज्ञानवश टिहरी के राज पंडित का भोजनों का निमंत्रण स्वीकार कर लिया उसके घर जाने पर उन्हों ने देखा कि वहाँ पशु का मांस काटा जारहा है और चारों ओर एक बधिक के घर का सा दृश्य उपस्थित है उसे देख कर उन्हें अत्यन्त जुगुप्सा उत्पन्न हुई और वे तुरन्त वहाँ से बिना भोजन किये ही लौट गये। बाद में जब राज पंडित को यह जान कर पश्चाताप हुआ कि उसने सर्वथा निरामिषभोजी संन्यासी के लिये आमिष भोजन तैयार कराया था। तो उसने कुछ अन्न और फल आदि स्वामीजी के निवास स्थान पर भेज दिया।[१]

स्वामी जी ने अपने ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर मांस भक्षण और मदिरा पान की बुराइयों का वर्णन किया है सत्यार्थप्रकाश का दशम समुल्लास और गोकरुणानिधि आदि पुस्तकें इस विषय में द्रष्टव्य हैं यह अत्यन्त खेद का विषय है कि स्वामी जी की मांस के निषेध में इतनी स्पष्ट आज्ञायें होते हुये भी आर्यसमाज में एक समय इसको लेकर घोर विरोध और वैमनस्य का वातावरण उत्पन्न हो गया उससे आर्यसमाज के संगठन में आर्यसमाज की बदनामी

---

१ श्रीमदयान्द प्रकाश पृ० ५३ सप्तम संस्करण १९५०

१ देखिये —हम क्या खावें ? घास या मांस'' पुस्तक में आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री खुशहालचन्द्र जी आनन्द (अब महात्मा आनन्द स्वामी) का पत्र ले० पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय प्रकाशक

भी खूब हुई। खैर कुछ भी हो आर्यसमाज के किसी भी दल ने चाहे वह गुरुकुल का हो या कालेज का कभी मांस का समर्थन नहीं किया ? अतः आर्य समाज का मांस के विषय में स्पष्ट निषेधात्मक दृष्टिकोण है मदिरापान तो मनु की सम्मति में महान घातक है जिसके लिये घोर प्रायश्चित की व्यवस्था की गई है।

राम मोहनराय को वेश्याओं के नृत्य आदि देखने का भी शौक था उनके अंग्रेजी ग्रन्थ संग्रह की भूमिका में सम्पादक ने लिखा है।

"There is also another matter in which he was not in advance of his age. In his "Brief remarks regarding the ancient rights of females", he says that of the three modes of conduct left to the widows of a polygamous man to pursue, the second is, "To walk the paths of unrighteousness for their main tenance and independence." And this he of course, condemns, and there by shows himself to have been an advocate of Social purity. Yet it would appear that he found nothing objectionable in entertaining his guests with the nautch and music of dancing girls in his resedence. For we find in Fanny Parke's "Wandering of a Pilgrim" Vol. I chap. IV (Residence in Calcutta, May 1823), the following passage : "The other evening we went to a party given by Ram Mohan Roy, a rich Bengali baboo, the grounds which are extensive, were illuminated, and excellent fire works displayed. Invarious rooms of the house nach girls were dancing and singing."[1]

अर्थात् एक दूसरी बात और है जिसके कारण राम मोहनराय अपने युग से आगे निकले हुये नहीं माने जा सकते अपनी पुस्तक "स्त्रियों के प्राचीन अधिकार में" उन्होंने यह बताया है कि बहु विवाह करने वाले पुरुष के मर जाने पर उसकी विधवाओं के लिये तीन प्रकार के आचरण शेष रह जाते हैं,

---

१ Introduction. p. xvii.

उनमें से एक है अपने पेट की ज्वाला को शान्त करने के लिये वेश्या का पेशा स्वीकार कर लेना। राम मोहनराय उनके इस कार्य की निंदा करते हैं और इस प्रकार अपने आपको सामाजिक पवित्रता का समर्थक सिद्ध करते हैं। इतना होने पर भी यह प्रतीत होता है कि उन्हें अपने गृह में अतिथियों के मनोरञ्जनार्थ वेश्याओं का नृत्य और गान कराने में कोई आपत्ति नहीं थी जैसा कि हम फनी पार्कस लिखित पुस्तक में पढ़ते हैं "उस रात्रि को हम एक धनी बंगाली बाबू राम मोहनराय द्वारा दी गई पार्टी में गये वहाँ खूब प्रकाश का प्रबन्ध था आतिशबाजी हो रही थी और कई कमरों में नर्तकियों का नाच और गान चल रहा था।"

एक साधारण गृहस्थ के लिये भी यह बातें अत्यन्त आक्षेप योग्य और अनुचित हैं परन्तु राम मोहनराय केवल गृहस्थी ही नहीं थे। उनके प्रत्येक आचरण की मीमांसा और आलोचना की जा सकती है ब्राह्मसमाज के संस्थापक के नाते वे धर्म गुरु और धर्म के उपदेष्टा थे अतः उनके प्रत्येक उचित और अनुचित आचरण पर जनता की दृष्टि जाना स्वाभाविक है यदि लोगों के सामने यह दृष्टिकोण नहीं होता तो उक्त पुस्तक के सम्पादक महोदय यह टिप्पणी क्यों लिखते अतः राम मोहनराय का यह आचरण कदापि सराहनीय नहीं कहा जा सकता सुधारकों से सामाजिक सुधार और कुरीतियों के उन्मूलन की आशा की जाती है न कि उनको प्रश्रय देने की।

स्वामी दयानन्द वेश्या नृत्य के घोर विरोधी थे? उन्होंने स्थान-स्थान पर इनका खण्डन किया है और अनेक वेश्या गामियों को सत्पथ पर लाने का प्रयत्न भी किया ब्रह्मचारी और सन्यासी के लिये तो नृत्यगीत आदि वर्जित ही हैं परन्तु गृहस्थी के लिये भी विशेष कामोत्तेजक गीतों और नृत्यों का सेवन हानिकर माना गया है स्वामीजी नृत्य और गीत विद्या के मूलतः विरोधी

---

१ गांधर्व वेद जिसको गान विद्या कहते हैं उसमें स्वर राग रागणी समय ताल ग्राम तान वदित्र नृत्य गीत आदि को यथावत् सीखे परन्तु मुख्य करके सामवेद का गान वादित्र पूर्वक सीखे और नारद संहिता आदि जो जो आर्ष ग्रन्थ हैं उनको पढ़े सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास।

नहीं थे। उन्होंने पठनपाठन व्यवस्थाके अन्तर्गत गान और वाद्य आदि सीखने का समुचित विधान किया है परन्तु वेश्या नृत्य कामवर्द्धक और विषयोत्तेजक होते हैं अतः उन्होंने उनका सदा विरोध ही किया।

चौदहवां अध्याय

स्वराज्य भावना और अंग्रेजी राज्य के प्रति विचार।

स्वामी दयानन्द प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने सर्व प्रथम स्वराज्य की घोषणा की। स्वराज्य की भावना का जन्म न तो कांग्रेसने ही किया है और न लोकमान्य तिलक ने ही इनसे कई वर्ष पूर्व ही ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा था "कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है अथवा मत मतान्तरके आग्रह रहित, अपने और पराये का पक्षपात शून्य प्रजा पर माता पिता के समान कृपा न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।"१

इसी महापुरुष ने सर्व प्रथम वेद मत्रों में स्वराज्य और राष्ट्रीय भावना के दर्शन किये। यजुर्वेद के एक मत्र का अर्थ करते हुये ऋषि लिखते "हे हे महाराजाधिराज पर ब्रह्म अखण्ड चक्रवर्ती राज्य के लिये शौर्य धैर्य नीति विनय पराक्रम और बलादि उत्तम गुण युक्त कृपा से हम लोगों को यथावत् पुष्ट करो अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों तथा हम लोग पराधीन कभी न हों१ ऋषि की इन्हीं भावनाओं को एक व्याख्यान में सुनकर एक अंग्रेज कलक्टर को कहना पड़ा था कि यदि आपके भाषण पर लोग चलने लगें तो हमें बोरिया बिस्तर बांधना पड़ेगा।" इस प्रकार ऋषि ने 'भारत छोड़ो' का नारा १९४२ से कई वर्ष पूव ही लगाया था।

महर्षि दयानन्द की पुस्तकें राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत हैं सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास का प्रारम्भिक भाग पढ़िये आपको ज्ञात हो

---

१ यजुर्वेद ३८।१४।

१ सत्यार्थ प्रकाश एकादश समुल्लास।

जायगा कि महर्षि के सम्मुख प्राचीन भारत का कितना गौरवपूर्ण मानचित्र था और देश की वर्तमान अधोगति को देख कर उनका देशभक्त हृदय कितना रोता था। देश की पराधीनता से वे दुखी थे और यहाँ के लोगों की परस्पर की फूट विरोध बाल-विवाह, अशिक्षा, ब्रह्मचर्य का नाश आदि बुराइयों की वे देश की पराधीनता का कारण समझते थे 'आर्याभिविनय' नामक पुस्तक वैसे तो वेद मन्त्रों की व्याख्या है जिसमें ईश्वर भक्ति से ओत प्रोत भाव प्रकट किये गये हैं परन्तु इसमें भी स्वामीजी ने अपने परम आराध्य और उपास्य देव प्रभु को राजा महाराजा महाराजाधिराज और सम्राट् आदि नामों से सम्बोधन किया है और उससे सार्वभौम, अखण्ड चक्रवर्ती साम्राज्य प्रदान करने की प्रार्थना की है ऐसी अनूठी प्रार्थना शायद ही किसी भक्त ने की होगी। इसी प्रकार गोकरुणानिधि में महर्षि की राष्ट्रीयता का अधिक पहलू स्पष्ट हुआ है।

स्वदेशी भावना का प्रचार करने वालों में ऋषि दयानन्द का नाम महात्मा गांधी आदि से भी पहले लिया जाना चाहिये स्वदेशी वस्त्रों और स्वदेशीय भाषा का प्रयोग करने का उपदेश महाराज ने सर्वत्र दिया। सत्यार्थप्रकाश में लिखते हैं "अपने देश के बने हुए जूते को आफिस और कचहरी में जाने देते हैं इस देशी जूते को नहीं इतने में ही समझ लेओ कि अपने देश के बने हुये जूतो का भी कितना मान प्रतिष्ठा करते हैं उतना भी अन्य देशस्थ मनुष्यों का नहीं करते"१ इस दृष्टान्त से महर्षि का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार अंग्रेज लोग स्वदेशी वस्तुओं से प्रेम करते हैं उसी प्रकार हमें भी करना चाहिये। जोधपुर के सर प्रतापसिंह आदि राजपुरुषों ने महाराज के उपदेश से ही स्वदेशी वस्त्रों और हिन्दी भाषा का राज्य में प्रचलन किया और राज-कर्मचारियों के लिये इनका प्रयोग अनिवार्य कर दिया।

इसी प्रकार महर्षि दयानन्द ने ही असहयोग सत्याग्रह प्रजातन्त्रवाद साम्य-वाद आदि राजनैतिक बातों का प्रचार सर्व प्रथम अपने ग्रन्थों के द्वारा किया था उनके सत्याग्रह का प्रमाण तो इसी बात से मिलता है कि जब वे शाहपुरा से जोधपुर जाने के लिये उद्यत हुये और जब लोगोंने मारवाड़ निवासियों की निष्ठुर प्रकृति की ओर संकेत करते हुये उन्हें जाने से रोकने का प्रयत्न किया

तो महर्षि ने स्पष्ट शब्दों में कहा "यदि लोग मेरी अंगुलियोंकी बत्तियाँ बना कर जलादें तो भी कोई चिन्ता नहीं मैं वहाँ जाकर अवश्य सत्योपदेश करूंगा" इसी प्रकार अजमेर में पादरी शूलब्रेड से चर्चा करते समय महर्षि ने कहा सत्य के लिये जेल जाना कोई लज्जा की बात नहीं है। धर्म पथपर आरूढ़ हो कर ऐसी बातों से "मैं सर्वथा निर्भय हो गया हूँ। मैं लोगों के डराने से सत्य को नहीं छोड़ सकता" इसी प्रकार सत्यार्थ प्रकाश के छठे समुल्लास में महर्षि ने राजव्यवस्था और प्रजातंत्र शासन की जो व्याख्या की है उससे यह स्पष्टहो जाता है कि महर्षि राजनीति से उदासीन नहीं थे अपितु वे भारतवासियों में स्वाधीनता के भावों को जाग्रत करने के लिये सदा उद्योग करते रहते थे।

राम मोहनराय के जीवन में अथवा उनकी रचनाओं में ऐसी राष्ट्रीय भावना का हमें कोई संकेत नहीं मिल सकता जैसा कि शिक्षा समस्या वाले अध्याय में दिखलाया जा चुका है राम मोहनराय अंग्रेजी शिक्षा के बड़े भारी समर्थक और प्रचारक थे। वे भारत वासियों को यूरोपियन भाषा और उनकी विचार धारा की नकल करने के लिये प्रोत्साहित करते रहते थे भारत से अंग्रेजों को निकालने का तो विचार ही उस समय नहीं आता था। हाँ राम मोहनराय अंग्रेजों के अधिक से अधिक संख्या में यहाँ बसने के पक्ष में अवश्य थे। उन्होंने एक छोटी सी पुस्तक इस विषय में लिखी थी।

"Remarks on settlement in India by Europeans."1

इस में इन्होंने यह सिद्ध किया कि यूरोपीय लोगों का भारत में बसना लाभदायक है इससे भारतवासियों की सामाजिक आर्थिक और शैक्षणिक उन्नति होना अवश्यम्भावी है। यद्यपि राम मोहनराय ने इसकी कुछ हानियों की ओर भी संकेत किया परन्तु उनका खास झुकाव इसी ओर था कि अंग्रेज और अन्य यूरोपीय राष्ट्रों के निवासियों को भारत में बसने की सुविधायें अवश्य प्राप्त होनी चाहिये। इससे आप अनुमान लगा सकते हैं कि राममोहन रायका झुकाव किस ओर था। यदि यूरोपीय लोग यहाँ बस जाते हैं तो उससे

---

1 The English works of Raja Ram Mohan Roy p. 315-320.

भारत का क्या भला हो सकता है, इसका इन्होंने अधिक विचार नहीं किया।

यद्यपि पहले पहल राम मोहन राय का अंग्रेजों के प्रति विशेष झुकाव नहीं था और न उनकी रुचि ही उस ओर थी, परन्तु धीरे-धीरे अंग्रेजों के सम्पर्क में आने पर उनको यह विश्वास हो गया कि अंग्रेज उतने बुरे नहीं है, जितने वे समझे जाते हैं, तथा अंग्रेजी राज्य से भी देश की उन्नति होने की सम्भावना है—उन्होंने अपने Autobiographical Sketch में लिखा है—

"Finding Europeans generally more intelligent, more steady and moderate in their conduct. I gave up my prejudice against them, and became inclined in their favour feeling persuaded that their rule, though a foreign yoke, would lead more speedily and surely to the amelioration of the native inhabitants."1

अर्थात् यूरोपियन लोगों को अधिक प्रतिभावान् सीधे और सभ्य जानकर मैंने उनके विरुद्ध पूर्वाग्रह को छोड़ दिया। मुझे यह विश्वास होने लगा कि यद्यपि उनका शासन एक विदेशी जुआ है, परन्तु उससे यहाँ के लोगों की दशा शीघ्र ही निश्चित रूप से उन्नत हो जायगी।

पाठक, आप राम मोहन राय की उक्त धारणा से महर्षि के पूर्व उद्धृत उद्‌गारों से तुलना करें, आपको दोनों महापुरुषों की भावनाओं का अन्तर ज्ञात हो जायगा। एक ओर महर्षि हैं जो यह दृढ़ विश्वास रखते हैं कि विदेशी राज्य चाहे वह कितना ही सुखद और उपकार करने वाला क्यों न हो, स्वदेशी राज्य के आगे हेय है, तिरस्करणीय है, अनादरणीय है और त्याज्य है। उसका कारण यह है कि वह विदेशी है, हमारी स्वातन्त्र भावना को कुण्ठित करने वाला है और हमारे स्वत्वों का विनाशक है। इसके विपरीत राम मोहन राय उसे लाभदायक और स्वदेशवासियों की उन्नति का

1 Autobiographical Sketch. p. 16.

हेतु मानते हैं। डेढ़ सौ वर्षों की गुलामी के पश्चात् यह स्वतः सिद्ध होगया कि अंग्रेजी शासनकाल में भारतवासियों का नैतिक और सामाजिक पतन ही हुआ, उन्नति कुछ भी नहीं हुई। हम अपनी भाषा, सभ्यता, धर्म और संस्कृति सब खो बैठे और पाश्चातों के अनुकरण में ही अपनी महानता समझ बैठे। आज स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात् हमें महर्षि के स्वराज्य विषयक उद्गारों का महत्व ज्ञात हुआ है, अतः मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं कि महर्षिने जो बात कही थी वह यथार्थ थी। स्वराज्य ही सब सुखों का मूलहै। विदेशी राज्य चाहे कितना पक्षपात शून्य और सुखद हो, वह कदापि उसकी तुलना में नहीं आ सकता!

अंग्रेज पादरी फर्कुहर ने राममोहनराय की इसीलिये प्रशंसा की है कि उन्होंने सर्व प्रथम यह अनुभव किया था कि ब्रिटिश राज्य के साथ सम्बन्ध होने से ही देश का कल्याण होगा। वह अपनी पुस्तक में लिखता है—

"He was the first Indian who realised the great good which the country would reap from its connection with Britain."1

अर्थात् वह प्रथम भारतीय था जिसने यह अनुभव किया कि ब्रिटिश लोगों से सम्बन्ध होने से देश का भला होगा। स्वामी दयानन्द का अनुभव बिलकुल दूसरे प्रकार का था। वे तो यह लिखते हैं कि "आर्यावर्त देश ही सच्चा पारसमणि है कि जिसको लोहे रूप दरिद्र विदेशी छूते ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।"२ पाठक स्वयं ही निर्णय करें कि राममोहनराय का अनुभव ठीक था या स्वामी दयानन्द का। तब उन्हें पादरी द्वारा राममोहन राय की प्रशंसा किये जाने का रहस्य भी ज्ञात हो जायगा।

———

1 Modern Religons Movements in India p. 36.

२ सत्यार्थप्रकाश एकादश समुल्लास

पन्द्रहवां अध्याय

ब्राह्मसमाज और आर्यसमाज

सन् १८१५ ई० में राममोहनराय ने अपने मकान में एक 'आत्मीय सभा' नामक सभा स्थापित की। इसका अधिवेशन प्रति सप्ताह होता था और उसमें वेद पाठ और ब्राह्मसंगीत का कार्यक्रम रहता था। यह सभा १८१९ तक चलती रही। इसी समय विलायत से मिस्टर आदम (Adam) नामक एक नये पादरी आये। राममोहन राय का इनसे वार्तालाप हुआ। पादरी ने राम मोहन राय को ईसाई बनाने का यत्न किया, परन्तु फल बिलकुल उलटा हुआ। राममोहन राय की युक्ति युक्त बातें सुन कर पादरी आदम का ईसाई त्रित्ववाद से विश्वास उठ गया और उन्होंने एकेश्वरवाद को स्वीकार कर लिया। अब वे अपने आपको एकेश्वरवादी ईसाई unitarian) कहने लगे। उन्होंने कलकत्ते में एक यूनीटेरियन सोसाइटी की स्थापना की।

राममोहन राय भी इस समय तक ब्रह्मोपासना के लिये एक सभा की आवश्यकता अनुभव करते थे। आदम द्वारा स्थापित यूनीटेरियन सोसाइटी से उन्हें अपने कार्य को पूरा करने में बड़ी सुगमता हुई। इस सोसाइटी में एकेश्वरवादी ईसाइयों के मतानुसार उपासना होती थी। राममोहन राय अपने कुछ साथियों सहित इस उपासना में सम्मिलित होते थे। वहाँ से लौटते समय एक बार उनके शिष्यों ने पूछा कि इन विदेशियों के उपासनालय में जाने की क्या आवश्यकता है? राममोहन राय मन में तो यह विचार पूर्व से ही था कि उनके जैसे एकेश्वरवादी लोगों के लिये पृथक् उपासनागृह होना चाहिये। उन्होंने अपने घर आकर मित्रों से इस विषय पर परामर्श किया और फलस्वरूप १८२८ में जोड़ासांका चीतपुर रोड़ पर एक किराये के मकान में ब्राह्मसमाज की स्थापना हुई जिसका अधिवेशन प्रति शनिवार सायं ७ से ९ बजे तक होता था। इसमें दक्षिणी ब्राह्मणों द्वारा वेद पाठ वेद व्याख्या, उपनिषद पाठ आदि कार्यकम होते थे। १८२९ में

1 Modern Religions Movements in India. p. 39.

ब्रह्मसमाज का अपना भवन बन गया। इस प्रकार विदेशी उपासना प्रणाली का अनुकरण किया गया।

यह है ब्राह्मसमाज के संस्थापन की पृष्टभूमि। वस्तुतः इस प्रकार की सामूहिक उपासना का अस्तित्व प्राचीन भारत के इतिहास में नहीं मिलता। पादरी फर्कुहर ने ठीक ही लिखा है—

"The form of service arranged by Ram Mohan Roy is christian. Congregational worship is unknown in the ancient Hinduism which he believed he was restoring. Further, the ethics which Ram Mohan Roy recommended were drawn from the reachings of christ."1

अर्थात् राममोहन राय द्वारा संचालित उपासना प्रणाली ईसाई प्रणाली है। प्राचीन हिन्दू धर्म में सामूहिक उपासना का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसी प्रकार राममोहनराय द्वारा प्रचारित आचार शास्त्र भी ईसा की शिक्षाओं से ही लिया गया था।

जब यह सिद्ध हो चुका है कि ब्राह्मसमाज ईसाई यूनीटेरियन चर्च के आधार पर बना, तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि आर्यसमाज की स्थापना करते समय स्वामी दयानन्द और उनके अनुयायियों के सम्मुख भी ब्राह्म-समाज और प्रार्थनासमाज (ब्राह्मसमाज का महाराष्ट्रीय संस्करण) का ही आदर्श था। प्रयत्न तो यह भी किया गया कि प्रचलित ब्राह्मसमाज को ही बदल कर आर्यसमाज का रूप दे दिया जाय, परन्तु इसमें सबसे बड़ी बाधा यह थी कि ब्राह्मलोग वेद प्रमाण को स्वीकार नहीं करते थे और दयानन्द इसको छोड़ना नहीं चाहते थे। अन्त में समझौते का कोई मार्ग नहीं निकला और सन् १८७५ में बम्बई नगर में सर्व प्रथम महर्षि ने आर्यसमाज की नींव डाली। यह मानने में कोई हानि नहीं है कि आर्यसमाज की नींव ब्राह्मसमाज के आदर्श पर रक्खी गई। अच्छे आदर्श को किसी भी स्थान से ग्रहण करने में कोई हानि नहीं है। अतः स्वामी दयानन्द ने सामूहिक उपासना के महत्व को देश काल और परिस्थिति के अनुकूल समझ कर स्वीकार किया।

केवल ऊपरी ढाँचे की दृष्टि से भले ही आर्यसमाज और ब्राह्मसमाज में

समानता ढूंढ़ निकाली जाय, अन्यथा सिद्धांतों की दृष्टि से दोनों में बड़ा अन्तर है। आर्यसमाज, जहाँ प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुये वेद को ईश्वरीय ज्ञान और निर्भ्रांत सत्य विद्या की पुस्तकें मानता है, वहाँ ब्राह्मसमाज का वेद के विषय में कोई निश्चयात्मक मत नहीं है। यद्यपि राममोहन राय ने अपने ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर वेद को ईश्वरीय ज्ञान स्वीकार किया है, परन्तु उन्होंने कहीं भी इसका दृढ़ता से प्रतिपादन नहीं किया और न उसकी आवश्यकता ही समझी। ऐसी परिस्थिति में वेद को लेकर आर्यसमाज और ब्राह्मसमाज का एक मत होना कठिन था।

राममोहन राय की मृत्यु के पश्चात् तो ब्राह्मसमाज ने स्पष्ट रूप से वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानने से इनकार कर दिया। मैक्स मूलर लिखते हैं—

"Members of Brahm Samaj, after becoming better acquainted with their own sacred writings than they ever had been before, shoud solemnly have declared in the year 1850 that the claim of being divinely inspired could no longerd maintained in favour of they hymns of Brahmans or the Veda."[1]

अर्थात् ब्राह्मसमाज के सदस्यों ने अपनी पवित्र धार्मिक पुस्तकों से पूर्वकी अपेक्षा अधिक परिचय प्राप्त करने के पश्चात् सन् १८५० में स्पष्ट घोषणा कर दी कि ईश्वर प्रेरित होने का दावा ब्राह्मणों या वेदों के विषय में नहीं किया जा सकता।

सन् १८७७ ई० के दिल्ली दरबार के अवसर पर ऋषि दयानन्द ने एक सर्व धर्म सम्मेलन का आयोजन किया था जिसमें ब्राह्मसमाज के प्रतिनिधि केशवचन्द्र सेन और नवीनचन्द्र राय उपस्थित थे। यहाँ पर भी देशोन्नति का विचार हुआ परन्तु वेद की प्रामाणिकता के प्रश्न को लेकर कोई समझौता नहीं हो सका। इसी प्रकार महर्षि जब बम्बई या पंजाब के ब्राह्मलोगों से मिले तब भी दोनों के दृष्टिकोणों में जो अन्तर था वह वेद की प्रामाणिकता को लेकर ही था। महर्षि के लिये वेद का प्रमाण सर्वोपरि था

1 Ram Mohan to Ramkrishna. p. 64.

वे इसे छोड़ कर किसी से कोई समझौता नहीं कर सकते थे ब्राह्मसमाज की समीक्षा के प्रसग में महर्षि ने ब्राह्मसमाज का वेद विषयक पूर्व पक्ष स्थपित कर लिखा है।

प्रश्न—हम कोई पुस्तक ईश्वरप्रणीत या सर्वांश में सत्य नहीं मानते क्यों कि मनुष्यों की बुद्धि निर्भ्रांत नहीं होती इससे उनके बनाये सब ग्रन्थभ्रान्त होते हैं। इसलिये हम सबसे सत्य ग्रहण करते और असत्य को छोड़ देते हैं। चाहे सत्य वेद में बाइबिल में वा कुरान में और अन्य किसी ग्रन्थ में हो हमको ग्राह्य है असत्य किसी का नहीं।

उत्तर—सर्वज्ञ परमात्मा के वचन का सहाय हम अल्पज्ञों को अवश्य होना चाहिये जैसा कि वेद के व्याख्यान में लिख आये हैं वैसा तुमको अवश्य मानना चाहिये। नहीं तो 'यतोभ्रष्टस्ततो भ्रष्ट हो जाता' है। जब सर्व सत्य वेदों से प्राप्त होता है जिनमें असत्य कुछ भी नहीं तो उनका ग्रहण करने में शंका करनी अपनी और पराई हानि मात्र कर लेनी है। इसी बात से तुमको आर्यवर्तीय लोग अपना नहीं समझते और तुम आर्यवर्त की उन्नति के कारण भी नहीं हो सके क्यों कि तुम सब घर के भिक्षुक ठहरे हो........जिस देश को रोग हुआ है, उसकी औषधि तुम्हारे पास नहीं हैं और यूरोपियन लोग तुम्हारी अपेक्षा नहीं करते और आर्यवर्तीय लोग तुमको अन्य मतियों के समान समझते हैं, अब भी समझकर वेदादि के मान्य से देशोन्नति करने लगो तोभी अच्छा है, जो तुम यह कहते होकि सब सत्य परमेश्वर से प्रकाशित होता है, पुनः ऋषियों के आत्माओं में ईश्वर से प्रकाशितहुए सत्यार्थको क्यों नहीं मानते? स्वामी जी के कथन का अभिप्राय यह है कि वेद को छोड़ कर कोई भी सम्प्रदाय भारतवासियों की उन्नति नहीं कर सकता। वेद विमुख होने से जो गति बौद्धों और जैनों आदि की हुई वही ब्रह्मसामाजियों की भी हुई। वे भी हिन्दू समाज से पृथक् समझे गये और उनकी भी गणना विधर्मियों में होने लगी। इसका कारण वेदों की अमान्यता ही है।

---

१ सत्यार्थप्रकाश एकादश समुल्लास

१ सत्यार्थप्रकाश एकादश समुल्लास

आर्यसमाज और ब्राह्मसमाज के दार्शनिक दृष्टिकोण में भी अन्तर है। आर्यसमाज ईश्वर जीव और प्रकृति को अनादि और सृष्टि का कारण मानता है। ब्राह्मसमाज का दार्शनिक दृष्टिकोण अस्पष्ट है। पता नहीं लगता कि वे शांकर अद्वैतवाद के समर्थक हैं या किसी और सिद्धांत के। राम मोहनराय के दार्शनिक विचारों की चर्चा और आलोचना ऊपर की जा चुकी है। स्वामी जीने समीक्षा प्रकरणमें लिखा है कि ब्राह्मलोग जगत्के उपादानकारणके बिना जगत् की उत्पत्ति मानते हैं। और जीव को भी ईश्वर से उत्पन्न हुआ मानते हैं। यह ईसाई और मुसलमानों के सिद्धांतों के तुल्य है।१ क्योंकि ये सामी (semetic) मजहबों वाले बिना कारण के ही कार्य की उत्पत्ति मानते हैं वस्तुतः इससे विश्व की जटिल पहेली का कोई हल उपस्थित नहीं होता क्यों कि जब तक ईश्वर जीव और प्रकृति को पृथक-पृथक नहीं मान लिया जाता तब तक दार्शनिक गुत्थियों का सुलझना असम्भव है।

जिस प्रकार पश्चाताप और प्रार्थना करने से पापों का निवृत्त होना ईसाई मुसलमान और पौराणिक लोग मानते हैं। उसी प्रकार ब्राह्मलोग भी मानते हैं। यह भी वैदिक सिद्धांत के प्रतिकूल है प्रसिद्ध है 'अवश्यमेवभोक्तव्य कृतं कर्म शुभाशुभम्' बिना कर्मों का फल भोगे पाप और पुण्य की निवृत्ति नहीं होती। यदि यह मान लिया जाय कि परमात्मा प्रार्थना करने अथवा तोबा कर लेने से पापों को क्षमा कर देता है तो इससे वह अन्यायकारी सिद्ध होता है। ईसाई मतके विश्वासानुसार ब्राह्मलोग पूर्व जन्म और पुनर्जन्म के सिद्धांत को भी नहीं मानते महर्षि ने ब्राह्मसमाज के इन सभी सिद्धांतों की समीक्षा सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में की है।

ब्राह्मसमाज की एक और त्रुटि की ओर स्वामी दयानन्द ने संकेत किया है वह है वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति अनास्था। राम मोहनराय ने यज्ञ आदि के विषय में कुछ नहीं लिखा। इस विषय की समीक्षा में महर्षि लिखते हैं।

---

१ सत्यार्थ प्रकाश एकादश समुल्लास

अग्निहोत्रादि परोपकारक कर्मों को कर्तव्य न समझना अच्छा नहीं ....और जो विद्या का चिन्ह यज्ञोपवीत और शिखा को छोड़ कर मुसलमान ईसाईयों के सदृश बन बैठना व्यर्थ है। जब पतलून आदि वस्त्र पहिनते हो और तमगों की इच्छा करते हो तो यज्ञोपवीत आदि का कुछ बड़ा भार हो गया था?"[१] स्वयं राम मोहनराय तो आजन्म यज्ञोपवीत धारी रहे परन्तु उनके समाज में उसकी कोई कड़ाई नहीं थी और आगे चलकर केशव बाबू ने तो न केवल स्वयं ही यज्ञोपवीत उतार फेंका अपितु उसके विरुद्ध बड़ा भारी आन्दोलन भी चलाया। तभी से आयसभ्यता और धर्म के अन्तिम चिन्ह यज्ञोपवीत और शिखा भी ब्रह्मसमाज से विदा हो गये। आर्यसमाज ने अग्निहोत्र के प्रचार और हिन्दू जाति के प्रमुख चिन्ह यज्ञोपवीत और शिखा की रक्षा के लिये जो कुछ किया है वह सब विदित ही है। यही कारण है कि आर्यसमाज हिन्दू धर्म का रक्षक समझा जाता है जब कि स्वधर्म चिन्हों के त्याग के कारण ब्राह्मलोग समाज से बहिष्कृत हुये और लोगों ने इन्हें म्लेच्छ कहा।

वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रति भी राम मोहनराय की कोई विशेष आस्था नहीं थी। हमारे सामाजिक संगठन के इस प्रमुख सूत्र की उन्होंने उपेक्षा ही की। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मसमाज हिन्दुओं से धीरे-धीरे दूर होता गया और वही उसके अन्त का कारण हुआ। राम मोहनराय की जीवनी में लिखा है। "यदि वेद का अध्ययन न किया हो तो और वर्णाश्रम के आचारों से रहित हो तब भी वह ब्रह्म विद्या का अधिकारी है और उसे परमपद की प्राप्ति हो सकती है।" वस्तुत यह कथन एक सीमा तक ही सत्य माना जा सकता है क्यों कि 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्ताम्' इत्यादि के अनुसार वेदज्ञान के लिये परमेश्वर के यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। शास्त्रों ने भी वेदों को ही आध्यात्मिक विद्या का स्रोत और धर्म का मूल कहा है। उनकी अपेक्षा कर कोई भी व्यक्ति निःश्रेयस प्राप्ति का अधिकारी नहीं हो सकता। इसी प्रकार वर्णाश्रम व्यवस्था का पालन भी सामाजिक व्यवस्था की

१ राममोहन राय ले० शिवनारायण द्विवेदी पृ० ८१

दृष्टि से नितान्त वांछनीय है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आर्य-समाज गुण कर्मानुसार वर्णाश्रम व्यवस्था का प्रबल समर्थक है।

ब्राह्मसमाज की अप्रगति का जो सबसे बड़ा कारण था, वह था उसका स्वदेशी आचार के प्रति उपेक्षा भाव। अंग्रेजों की देखा देखी-उन्होंने भी खान पान, रहन-सहन और वेशभूषा की राष्ट्रीय मर्यादाको समाप्त कर दिया। इनकी यह तथा कथित प्रगतिशीलता इतनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई कि हिन्दुओं की भक्ष्याभक्ष्य विषयक अत्यन्त आवश्यक और रूढ़ियुक्त मर्यादाओं को भी इन्होंने तिलान्जलि देदी और पूर्ण स्वच्छन्द हो गये। राजनारायण बोस नामक एक पुराने ब्राह्म नेता लिखते हैं।

"At the begining of 1846, I formally embraced Brahmoism, after the ceremony we publicly drank sherry and ate biscuits to show our dispelife in caste, eating the food forbidden to Hindus and drinking wine, were prevalent among the Brahmos of our time, at among those of Ram Mohan Roy's days."1

अर्थात् सन् १८७६ में मैंने औपचारिक रूप से ब्रह्मधर्म को स्वीकार किया। दीक्षा संस्कार हो जाने के पश्चात् हमने खुले रूप से शराब पी और बिस्कुट खाये, यह बतलाने के लिये कि हमारा जात पात में विश्वास नहीं है। मदिरापान और निषिद्ध भोजन को खाना उस समय के ब्राह्मलोगों में उसी प्रकार प्रचलित था जिस प्रकार कि राममोहन राय के समय में।

एक अन्य ब्राह्म नेता रामतनु लाहरी के विषय में मैक्समूलर ने जो कुछ लिखा है, वह और भी भयकर है—

"In order to shame those who denounced beefeating as sinful, he (Ramtanu Lahiri) and his friends would actually parade the streets with beef in their hands inviting the people to take it and eat it."1

---

१. श्री नन्दकुमार देव शर्मा लिखित स्वामी दयानन्द की जीवनी में उद्धृत

1 Ram Mohan to Ramkrishna. p. 70.

अर्थात् जो लोग गोमांस भक्षण को पाप समझते हैं, उन लोगों को लज्जित करने के लिये रामतनु लहरी और उसके मित्र अपने हाथों में गोमांस लेकर सड़कों पर घूमा करते थे और लोगों को उसके खाने के लिए आमन्त्रित करते थे। यह थी अनाचार की पराकाष्ठा। इससे अधिक विडम्बना की बात और क्या हो सकती है कि गोमांस और मदिरा जैसी निषिद्ध वस्तुओं का प्रयोग केवल इसीलिए किया जाय कि इससे प्रचलित सामाजिक रूढ़ि को आघात पहुँचेगा। क्या सुधारक होने का यही लक्षण है कि खान-पान सम्बन्धी आवश्यक और लाभदायक नियम भी तोड़े जांय ? इसलिये ब्रह्मसमाज की समीक्षा के प्रकरण में ऋषि ने ठीक ही लिखा है—"अंग्रेज, यवन, अन्त्यजादि से भी खाने पीने का भेद नहीं रक्खा। इन्होंने यही समझा होगा कि खाने पीने और जाति भेद तोड़ने से हम और हमारा देश सुधर जायगा। परन्तु ऐसी बातों से सुधार तो कहाँ उलटा बिगाड़ होता है। आर्यसमाज ने यद्यपि खान पान सम्बन्धी अनेक मिथ्या धारणाओं को दूर किया, परन्तु उसने स्वास्थ, सदाचार और शिष्टता के प्रतिकूल खान-पान विषयक उच्छृंखलता को कभी प्रोत्साहित नहीं किया।

ब्राह्मसमाज में विदेशी तत्वों की सदा प्रधानता रही। इसके अनुयायियों में स्वदेश और स्वधर्म के प्रति निष्ठा का भाव नितान्त न्यून रहा। महर्षि दयानन्द ने इसका कड़ा विरोध किया, क्योंकि वे जानते थे कि जिस संस्था के सदस्यों में स्वधर्म और स्वसंस्कृति के प्रति भक्ति नहीं है, वह देश का अधिक हित साधन नहीं कर सकती। महर्षि ने लिखा है—"इन लोगों में स्वदेश भक्ति बहुत न्यून है। ईसाइयों के आचरण बहुत से लिये हैं। खान पान विवाहादि के नियम भी बदल दिये हैं। अपने देश की प्रशंसा वा पूर्वजों की बड़ाई करनी तो दूर रही उसके बदले पेट भर निन्दा करते हैं। व्याख्यानों में ईसाई आदि अंग्रेजों की प्रशंसा भर पेट करते हैं। ब्रह्मादि महर्षियों का नाम भी नहीं लेते, प्रत्युत ऐसा कहते हैं कि बिना अंग्रेजों के सृष्टि में आज

---

१ सत्यार्थ प्रकाश एकादश समुल्लास

पर्यन्त कोई भी विद्वान नहीं हुआ। आर्यावर्ती लोग सदा से मूर्ख चले आये हैं। इनकी उन्नति कभी नहीं हुई। वेदादिकों की प्रतिष्ठा तो दूर रही परन्तु निन्दा करने से भी पृथक् नहीं रहते। ब्राह्मसमाज के उद्देश्य के पुस्तक में साधुओं की संख्या में ईसा, मूसा, मुहम्मद, नानक और चैतन्य लिखे हैं। किसी ऋषि महर्षि का नाम तक नहीं लिखा। इससे जाना जाता है कि इन लोगों ने जिनका नाम लिखा है उन्हीं के मतानुसारी मत वाले हैं। भला जब आर्यावर्त में उत्पन्न हुये हैं और इसी देश का अन्न जल खाया पीया, अब भी खाते पीते हैं। अपने माता पिता, पितामहादि के मार्ग को छोड़कर दूसरे विदेशी मतों पर अधिक झुक जाना ब्राह्मसमाजी और प्रार्थना समाजियों को एतद्देशस्थ संस्कृति विद्या से रहित अपने को विद्वान प्रकाशित करते हैं। इंगलिश भाषा पढ़ के पण्डिताभिमानी होकर झटिति एक मत चलाने में प्रवृत होना मनुष्यों का स्थिर और वृद्धिकारक काम क्यों कर हो सकता है?" १

इसके विपरीत आर्यसमाज सदा से स्वदेशी का पोषक रहा है। आर्यसमाज का सम्पूर्ण दृष्टिकोण ही राष्ट्रीय है। महर्षि के उपर्युक्त वाक्यों से जहाँ उनकी उज्ज्वल देशभक्ति का परिचय मिलता है, वहाँ उससे यह भी ज्ञात हो जाता है कि ब्राह्म नेताओं से उनका भेद कहाँ था। भारतीय सभ्यता और संस्कृति का महत्व समझते हुये ऋषि दयानन्द ने पश्चिमी सभ्यता की अन्धी नकल को अत्यन्त हानि कर सिद्ध किया। वह राष्ट्रीय भावनाओं का पुजारी था, अतः उसे ब्राह्मसमाज की यह पश्चिम पूजा रुचिकर प्रतीत नहीं हुई। इसलिये उपयुक्त शब्दों में उसे ब्राह्मसमाज की आलोचना करनी पड़ी, अन्यथा वह उसकी अच्छाइयों का प्रशंसक था।

ब्राह्मसमाज भारतीय परम्परा और संस्कृति के अनुकूल वातावरण नहीं बना सका, इसका कारण यह था कि उस पर विदेशी ईसाई मत का बड़ा भारी प्रभाव था। इसका बाह्य रूप ही नहीं, इसके सिद्धाँतों के भीतर भी ईसाईयत घुस गई थी। यथा, उपादान कारणके बिना जगतकी रचना मानना,

---

१ सत्यार्थ प्रकाश एकादश समुल्लास

जीव को उत्पन्न मानना, पश्चाताप से पापों का दूर होना मानना परन्तु पुनर्जन्म को न मानना आदि बातें ईसाई मत से ली गई हैं। ईसाईमत का यह प्रभाव राममोहनराय के काल में तो प्रछन्न रूप में ही रहा परन्तु केशव चन्द्र सेन के नेतृत्वकाल में वह इतना स्पष्ट और प्रभावपूर्ण होगया कि ब्राह्मसमाज के देवेन्द्रनाथ टैगोर आदि पुराने नेताओं को भी उसके औचित्य के विषय में शंका होने लगी। आर्यसमाज पर किसी भी विदेशी या अन्य धर्म के प्रभाव को ढूँढ़ निकालना कठिन है। कार्यशैली और विधान की दृष्टि से भले ही आर्यसमाज एक नवीन प्युरिटियन धर्म संस्था प्रतीत होती हो, परन्तु उसके सारे धार्मिक और सामाजिक सिद्धाँतों का मूल भारत की प्राचीन परम्पराओं में ढूँढ़ा जा सकता है।

ब्राह्मसमाज कई विषयों में पौराणिकों की भाँति ही कट्टर भी है। जे-एन फर्कुहर ने ब्राह्म उपासना का वर्णन करते हुये लिखा है—

"The service was in four parts, the chanting of selections from the Upnishads in Sanskrit, (This was done in a small room curtained off by it self in to which only Brahmans were admitted."1

अर्थात् उपासना प्रणाली के चार भाग थे—उपनिषदों के मन्त्रों का उच्चारण होता था। यह विधि एक छोटे से कमरे में होती, जिसके चारों ओर पर्दे लगे रहते थे। इसमें केवल ब्राह्मण ही प्रविष्ट हो सकते हैं। इसके लिखने का उद्देश्य यह है कि राममोहन राय ने भी इन्हीं मध्यकालीन रूढ़ियों को प्रश्रय दिया जो स्वार्थी ब्राह्मणों ने निर्मित की थीं। उदाहरण के लिये, शूद्रों के आगे वेद न पढ़ना। राममोहन राय जानते थे कि यदि इस परिस्थिति में शूद्रों को वेदाधिकार दिया गया अथवा उनके सामने वेद पाठ ही किया गया तो ब्राह्मण वर्ग असन्तुष्ट हो जायगा और उस विषम स्थिति का सामना करना कठिन हो जायगा।

स्वामी दयानन्द ने तो शूद्रों के वेदाधिकार का भी बलपूर्वक प्रतिपादन

---

1 Modern Religions Movements in India. p. 34.

1 Life of Ramakrishna p. 159.

किया। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि प्रभु की कल्याणी वेदवाणी के पढ़ने और सुनने का अधिकार मनुष्य मात्र को है। स्वामी दयानन्द की इन्हीं उदार भावनाओं से प्रभावित होकर रोमा रोला जैसे मनीषी विद्वान ने ठीक ही लिखा है—

It was in truth an epoehmaking date for India when a Brahmin not only acknowledged that all huma ι ιings have the ight to know tl e Vedas,whose st idv ha b..n previously prohibited by orthodox Br. h nin , but insisted that their study and Propa-gandawas the duty of every Arya."1

अर्थात् भारत में वह एक नव युग का निर्माण करने वाला दिन था, जब एक ब्राह्मण (दयानन्द सरस्वती ने) ने न केवल यह स्वीकार किया कि सब मनुष्यों को वेदों के अध्ययन का (जिसे कट्टरपन्थी ब्राह्मणों ने निषेध कर दिया था) अधिकार है, प्रत्युत साथ ही इस बात पर भी उसने बल दिया कि उनका पढ़ना, पढ़ाना और सुनना सुनाना भी प्रत्येक आर्य का मुख्य धर्म है।

आर्यसमाज की उपासना में सम्मिलित होने का प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है चाहे वह किसी भी वर्ग या जाति का क्यों न हो। यहाँ तक कि आर्यसमाज अन्य सम्प्रदायों के अनुयायियों को भी अपने सत्संगों में और उत्सवों में सम्मिलित होने का निमन्त्रण देता है।

इस विवेचन को समाप्त करने से पूर्व हम एक अत्यन्त आवश्यक प्रश्न पर विचार करना चाहते हैं। वर्तमान हिन्दू समाज में ब्राह्मसमाज की क्या स्थिति है और उसका क्या भविष्य है? प्रारम्भिक काल से ही ब्राह्मसमाज की स्थिति ऐसी रही है कि उसे हिन्दूसमाज से प्रथक एक नवीन मत और सम्प्रदाय के रूप में स्वीकार किया गया है। उसका कारण भी यही है कि ब्राह्मलोगों ने हिन्दुओं के धर्म, विश्वास, रीतिरिवाज और आचरण व्यवहार का सदा उपहास किया और उनसे पृथक् रहे। महर्षि दयानन्द ब्राह्मसमाज की इस प्रवृत्ति को जानते थे। उन्होंने लखनऊ में अपने भक्त रामधारजी

१ श्री मद्दयानन्द प्रकाश पृ० ४४०-४४१

को कहा, "ब्राह्मसमाजियों और ईसाइयों की भाँति पृथक् होकर, सामूहिक जातीय जीवन की मात्रा को घटा देना हमारा उद्देश्य नहीं है। इन्हीं लोगों में (हिन्दुओं में) रहते हुये अपने कर्त्तव्य कर्म को करते जाओ।"१

जिस बंगाल प्रान्त में ब्राह्मसमाज उत्पन्न हुआ और फला फूला वहाँ भी इसका भविष्य अन्धकारमय प्रतीत होता है। बंगीय समाज का यथार्थ चित्रण करने वाले रवीन्द्रनाथ ठाकुर, शरत्चन्द्र चटोपाध्याय आदि औपन्यासिकों की रचनाओं से हमें ज्ञात हो जाता है कि वहाँ ब्राह्म लोगों के प्रति सामान्य हिन्दू जनता की क्या भावना है ? वहाँ हिन्दू और ब्राह्म पृथक् पृथक् धर्मों के अनुयायियों के सूचक माने जाते हैं। लोग ब्राह्मों को ईसाइयों के जैसा मानते हैं और उनसे उसी प्रकार छूत छात का व्यवहार करते हैं जिस प्रकार किसी अन्त्यज या विधर्मी के साथ किया जाता है। जे-एन फर्कुहर ने ठीक ही लिखा है—

"The Brahma today is as distinctly outside Hinduism as the Christian."1

हमें इसके कारण का भी पता लगाना चाहिये कि ब्राह्मसमाज की यह स्थिति क्यों हुई ? जो संस्था सामाजिक सुधार और धार्मिक पुनरुत्थान का कार्य क्रम लेकर जनता के समक्ष उपस्थित हुई थी, आज उसे हिन्दू समाज से दूध की मक्खी की तरह निकाल कर बाहर क्यों फेंक दिया गया ? इसका उत्तर ढूँढ़ना कठिन नहीं है। बात वही है जो अब तक अनेक रूपों में दोहराई गई है अर्थात् ईसाइयों के प्रति अधिक झुकाव एवं विदेशी तत्वों को अपने में स्थान देकर ब्राह्मसमाज ने सदा के लिये हिन्दूओं को अपना विरोधी बना लिया। अन्त में यह भी स्थिति आगई कि उसे हिन्दू धर्म से सर्वथा पृथक् समझा जाने लगा।

क्या आज के भारत में ब्राह्मसमाज के लिये कोई स्थान है ? शायद इसका उत्तर निराशा पूर्ण शब्दों में ही दिया जायगा। ब्राह्मसमाज का विशेष प्रचार भारत में कभी नहीं रहा। प्रारम्भ में तो यह आन्दोलन अपनी जन्म

---

1 Modern Religions Movements in Indsa. p. 38,

भूमि बंगाल तक ही सीमित रहा। फिर एक समय ऐसा आया जब वह बम्बई और पंजाब जैसे सुदूर प्रान्तों में व्यापक हो गया। स्वामी दयानन्द के समय में लाहौर और कलकत्ता ब्राह्मसमाज की प्रवृत्तियों के प्रमुख केन्द्र थे। आज के तथ्य और भी निराश्यजनक हैं। शायद कलकत्ता में कोई ब्राह्मसमाज की संस्था का नामशेष हो तो हो अन्यथा उसका अस्तित्व इतिहासके पृष्ठों में ही ढूंढा जा सकता है।

इसकी तुलना आर्यसमाज से कीजिये। आर्यसमाज ने अपने को हिन्दू समाज से कभी पृथक् नहीं समझा, जिसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओं की भी उसके प्रति उदारतापूर्ण और सौजन्यमय भावनायें रहीं एक युग अवश्य आया था जबकि आर्यसमाज और प्राचीन विचार वाले लोगोंके बीच एक बुद्धिवादी संग्राम का सूत्रपात हुआ था। वह युग शीघ्र ही समाप्त हो गया और आर्य समाज की उपयोगिता जनता के समक्ष प्रकट हो गई। धार्मिक संशोधन सुधार और सेवा कार्य शिक्षा प्रचार दलितोद्धार स्त्री शिक्षा कुरीति निवारण राष्ट्रभाषा प्रचार जैसे अनेकों कायक्रम आर्यसमाज द्वारा संचालित किये गये। इसके फलस्वरूप यह आन्दोलन दिनों दिनउन्नति करता गया और एक समय आया जब कि उसने राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप धारण कर लिया ईसाईमत और इस्लाम जैसे आक्रामक मतों से सुलह करने की अपेक्षा आर्य-समाज ने उसकी कूटनीतिक चालों का सदा भण्डा फोड़ दिया और उनकी हिन्दुओं को विधर्मी बनाने की दुष्प्रवृतियों का डट कर सामना किया। परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओं की दृष्टि में आयसमाज उनकी रक्षक संस्था हो गई और वे उसके कार्यकर्ताओं को सम्मान की दृष्टि से देखने लगे।

जीवन और उसकी समस्याओं के प्रति यथार्थ वादी दृष्टिकोण रखने के कारण आयसमाज का प्रचार देश और विदेश में सर्वत्र हो गया। इसकी विशालता और व्यापकता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि अफ्रीका मोरीशश फिजी दक्षिण अमेरिका और पश्चिमी द्वीप समूह जैसे

1 Ram Mohan to Ramkrishna. p. 73.

सुदूर देशों में भी इसकी शाखायें हैं और वैधानिक दृष्टि से वे आर्यसमाज के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के सूत्र में बंधी हैं ! आर्यसमाज मध्यवर्गी लोगों का आन्दोलन है तथा इसमें राष्ट्रीय भावना का पूर्ण समावेश होने के कारण इसकी भावी सफलता की पूर्ण आशा है। मैक्समूलर जैसे दूरदर्शी विचारक इस तथ्य को समझ ते थे। उसने दोनों संस्थाओं की लोक प्रियता और व्यापकता का लेखा जोखा करते हुये लिखा है।

"At present this revival of the ancient national religion (Arya Samaj has gained and is gaining far more support in India than the reforms initated by Ram Mohan Roy and Keshabchandra Sen."1

अर्थात् आर्यसमाज रूपी प्राचीन राष्ट्रधर्म का यह पुनर्जागरण आज भारतमें अधिक लोकप्रिय होरहा है अपेक्षाकृत उन सुधारों के जो राम मोहन राय या केशवचन्द्र सेन द्वारा प्रचलित हुये।

इस प्रकार दोनों संस्थाओं का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आर्यसमाज और ब्राह्मसमाज में एक ईश्वर की पूजा मूर्तिपूजा के प्रति अनास्था सामाजिक सुधारों में रुचि और जन्म गत जात पांत से घृणा आदि अनेक समानतायें होते हुये भी विषमतायें कम नहीं हैं। आयसमाज मूलतः जहाँ पुरातन धर्म का पुनरुत्थान करने के लिये अग्रसर होने वाली संस्था है वहाँ ब्राह्मसमाज के सम्मुख एक उच्च आदर्श होते हुये भी संगठनात्मक शक्ति का अभाव है। ब्राह्मसमाज के संगठन में राम मोहनराय के पश्चात् ही भयकर वैषम्य उत्पन्न हो गया और उसकी आदि ब्राह्मसमाज साधारण ब्राह्मसमाज और नव विधान New Dispensation) आदि अनेक साखायें हो गईं जिनका इतिहास जानने के लिये हमें केशवचन्द्र सेन का अध्ययन करना पड़ेगा। संगठन की दृष्टि से आर्यसमाज ही एक सफल संस्था है।

सोलहवां अध्याय

उपसंहार

तुलना करना बड़ा कठिन कार्य है और विशेषतः ऐसे महापुरुषों की जो लगभग एक से वातावरण में उत्पन्न हुये हों और जिन्होंने लगभग एक सा कार्य किया हो। स्वामी दयानन्द और राम मोहनराय ऐसे ही युग पुरुष जिन्हों ने ऐसे समय में जन्म लिया जब कि हिन्दू धर्म और समाज पर बहुमुखी आक्रमण हो रहे थे और उसकी आन्तरिक दशा भी संतोष जनक नहीं थी। दोनों ही व्यक्ति पुरातन संस्कृति और धर्म के निष्ठावान पुजारी थे जिन्होंने प्राचीन शास्त्रों से प्रेरणा प्राप्त कर अपना कार्य प्रारम्भ किया।

दोनों महापुरुष ईश्वर के पक्के विश्वासी और एकेश्वरवाद के प्रति दृढ़ आस्था रखते थे। उन्होंने मूर्तिपूजा की हानियों को समझा और जीवन भर इस बुराई को समाज से दूर करने का प्रयत्न करते रहे। स्वामी दयानन्द ने वेद को अपने आन्दोलन का आधार बनाया क्यों कि वे जानते थे कि वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के कार्य में वेद ही एक ऐसी चट्टान है जिसे पकड़ कर वे अपने लक्ष्य को प्राप्त करते हैं। यद्यपि राम मोहनराय के समक्ष वेदों की यह महत्ता इतने दृढ़ और अनिवार्य रूप में नहीं आई थी परन्तु वे भी इन शास्त्रों के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखते थे और उनका महत्व स्वीकार करते थे दोनों महापुरुष उच्च कोटि के समाज सशोधक थे। स्वामी दयानन्द ने अपने समय में प्रचलित लगभग सभी रुढ़ियों और अंधविश्वासों के विरोध में आवाज उठाई। उनका सुधार कार्य उनके देहावसान के पश्चात् भी चलता रहा। राम मोहनराय ने सती जैसेक्रूर प्रथा को बद कराया और महान कार्य सम्पादन कर अनेक अबलाओं के आशीर्बाद भाजन बने उन्होंने बहु विवाह का भी विरोध किया। प्रचलित जन्मगत जात पांत को भी वे अच्छा नहीं समझते थे और उन्होंने 'वज्रसूची' नामक एक नवीन उपनिषदका भी अनुवाद किया था जिसमें जन्मगत जाति प्रथा को दोषयुक्त सिद्ध किया गया है।

राम मोहनराय और स्वामी दयानन्द दोनों ही संस्कृत भाषा के प्रेमी थे।

स्वामी जी ने तो अपने सारे ग्रन्थों की ही रचना आर्यभाषा हिन्दी या संस्कृत में की है उनकी मातृभाषा गुजराती थी और प्रारम्भिक कालमें उन्होंने संस्कृत में ही पठन-पाठन भाषण शास्त्रार्थ और बाद-विवाद आदि किये थे परन्तु कलकत्ते में केशवचन्द्र सेन की सम्मति का आदर करते हुए उन्होंने भावी जीवन में हिन्दी कोही अपने विचारों की अभिव्यक्ति का साधन बनाया।

राम मोहनराय की ग्रन्थ रचना मुख्यतः अंग्रेजी और बंगला में हुई है उनके अधिकांश शास्त्रार्थ और वाद-विवाद ईसाई पादरियों से होते थे और उनकी रचनाओं के पाठकों में भी अधिकांश उच्च शिक्षित विदेशी और एतद्देशीय लोग रहते थे। अतः राम मोहनराय अंग्रेजी का प्रयोग करने के लिये विवश थे। वे धार्मिक वाद विवादों के लिये भी संस्कृत को ही उपयुक्त भाषा मानते थे। शंकर शास्त्री के प्रश्नों का उत्तर देनेके प्रसंग में राममोहन राय लिखते हैं।

"I beg to be allowed to express the disappointment. I have felt in receiving from a learned Brahmin controversial remarks on Hindoo Theology written is a foreign language, as it is invairable practice of the natives of all provinces of Hindoostan to hold their discussions on such subjects in Sanskrit, which is the learned language common to all of them, and in which they may naturally he expected to convey their ideas with perfect correctness and greater facility than in any foreign language."1

अर्थात् मुझे अपनी निराशा को प्रकट करने की आज्ञा दी जाय निराशा इस बात के लिये है कि एक विद्वान ब्राह्मण ने हिन्दू अध्यात्मवाद पर अपने विवादास्पद विचारों को विदेशी भाषा में प्रकट किया है। भारत के सभी प्रान्तों के निवासियों की यह धारणा है कि ऐसे विषयों पर जो विचार विमर्श हो वह संस्कृत में ही होना चाहिये। कारण यह है कि इस विद्वतापूर्ण भाषा को सभी विद्वान जानते हैं और जिसके माध्यम से वे अपने विचारों

1 A Defence of Hindoo Theison. p, 89.

को अधिक ठीक और सुविधा जनक ढंग से प्रकट कर सकते हैं अपेक्षाकृत इसके कि वे किसी विदेशी भाषा में प्रकट किये जांय ।

इस उदाहरण से यह प्रतीत होता है कि राममोहनराय संस्कृत के समर्थक अवश्य थे परन्तु उन्होंने ब्राह्मसमाज में इसके यिये कोई नियम नहीं वनाया और न ऐसी परम्पारा को ही जन्म दिया जिससे उक्त समाज में संस्कृत का प्रभाव बढ़ सके । यही कारण था कि धीरे-धीरे संस्कृत और उसके साथ साथ वैदिक शास्त्र भी ब्राह्मसमाज से विदा होते गये और अन्त में वह कुछ ईसाई मत से प्रभावित बाबुओं की जमात ही रह गई । ऋषि दयानन्द ने तो आर्यसमाज के उपनियमों में ही आर्यभाषा हिन्दी और संस्कृत का ज्ञान प्रत्येक आर्यसभासद के लिये अनिवार्य कर दिया था । इसके अतिरिक्त ऋषि की शास्त्रीय विद्वता की परम्परा आर्यसमाज में स्थिर रह सकी और आर्य-समाज ने उच्चकोटि के विद्वान देश को दिये ।

दोनों महापुरुषों ने ब्राह्मसमाज और आर्यसमाज जैसी सुधारक संस्थाओं को जन्म दिया जिसके द्वारा देश का बहुत कुछ हित सम्पादन हुआ । उनमें से आर्यसमाज का कार्य यथापूर्व चल रहा है यद्यपि ब्राह्मसमाज व्यवहारिक

अर्थात् ब्राह्म लोग आज हिन्दू धर्म से वैसे ही पृथक् हैं जैसे ईसाई लोग ।

दृष्टि से समाप्त हो चुका है । शिक्षा सेवा सुधार और धर्म प्रचार के विविध क्षेत्रों में आजीवन कार्य करने के पश्चात् दोनों महापुरुषों ने लगभग समान आयु भोग कर परलोक गमन किया दोनों के जीवन में यह आकस्मिक समानता ही कही जायगी कि स्वामी दयानन्द और राम मोहनराय ५९ वर्ष की आयु तकही जीवित रहें । हमारा दृढ़ विश्वास है कि भारतीय पुनर्जागरण का जब इतिहास लिखा जायगा तब राम मोहनराय और दयानन्द का नाम उन अनेकानेक सुधारकों की सूची में शीर्ष स्थान प्राप्त करेगा जिन्होंने सुधार कौर संस्कार के लिये अपने जीवन की आहुति प्रदान की थी ।

———

मुद्रक—कन्हैयालाल शर्मा, शम्मी फाइन आर्ट प्रेस, नूरीदरवाज़ा, आगरा ।